MATS UNIVERSITY

NAAC GRADE A+ ACCREDITED UNIVERSITY

# MATS CENTRE FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

# समाजशास्त्र का परिचय

बैचलर ऑफ़ आर्ट्स (बी.ए.)

प्रथम सेमेस्टर

SELF LEARNING MATERIAL

**COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE**

1. Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department, MATS University Raipur Chhattisgarh
2. Dr. Sudhir Sharma, Subject Expert, HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai
3. Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University, Raipur, Chhattisgarh
4. Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh
5. Dr. Rajesh Kumar Dubey, Subject Expert, Principal, Shahid Rajeev Pandey Government College Bhatagaon, Raipur, Chhattisgarh
6. Dr. Shashikala Sinha, Government Mata Shabri Naveen Girls College, Bilaspur, Chhattisgarh

**COURSE COORDINATO**

Dr. Kamlesh Gogia, Associate Professor, MATS University, Raipur, Chhattisgarh

**COURSE /BLOCK PREPARATION**

Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department, MATS University Raipur Chhattisgarh

March, 2025
ISBN-978-93-49916-11-1

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed & Published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhudu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

---

Disclaimer-Publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from contents of this course material, this is completely depends on AUTHOR'S MANUSCRIPT.
Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

# विषय सूची

**माड्यूल–1 समाजशास्त्र का अर्थ एवं प्रकृति**

इकाई–1 समाजशास्त्र का अर्थ, परिभाषा 6–7

इकाई–2 समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र 7–23

इकाई–3 समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य 24–43

**माड्यूल–2 समाजशास्त्रीय अध्ययनों का वैज्ञानिक और मानविकी अभिमुखन**

इकाई–4 समाशास्त्रीय अभिमुखन का परिचय, अर्थ,प्रकार 44–46

इकाई–5 वैज्ञानिक अभिमुखन के विकासकर्ता 47–51

इकाई–6 मानवतावादी अभिमुखन, अर्थ, विशेषताए 51–56

**माड्यूल–3 मौलिक अवधारणाएँ**

इकाई–7 समाज का अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं, एक समाज, समाज और एक समाज में अन्तर, सहयोग और संघर्ष 57–66

इकाई–8 समुदाय, अर्थ, परिभाषा, सामुदायिक भावना, विशेषताएं, प्रकार 67–76

इकाई–9 समिति, अर्थ, परिभाषा 76–80

इकाई–10 संस्थाएँ, अर्थ, परिभाषा, संस्था की उत्पत्ति 81–87

इकाई–11 सामाजिक समूह अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं प्राथमिक व द्वितीयक समूह 88–109

**माड्यूल–4 प्रस्थिति एवं भूमिका**

इकाई–12 प्रस्थिति अर्थ, परिभाषा, प्रकार, भूमिका अर्थ,परिभाषा, विशेषताएं 110–119

इकाई–13 प्रस्थिति एवं भूमिका का समाजशास्त्रीय महत्व 119–121

इकाई–14 परिवार एवं नातेदारी 122–150

**Acknowledgement**

The Material (Pictures and images) we have used is purely for educational purpose. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Sould any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future of this book.

ekMîy&1



# समाजशास्त्र अर्थ एवं प्रकृति

**इस अध्याय के अन्तर्गत :**

- समाजशास्त्र की परिभाषाएँ, अध्ययन क्षेत्र
- समाजशास्त्र की विषय-वस्तु एवं प्रकृति
- समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता के विपक्ष में तर्क

**अध्याय के उद्देश्य :**

- इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :
- समाजशास्त्र की परिभाषाएँ और इसके अध्ययन क्षेत्र
- समाजशास्त्र की विषय-वस्तु और इसकी प्रकृति

## bdkbZ&1 lekt'kkL= dk vFkZ ifjHkk"kk

**समाजशास्त्र का अर्थ-**आगस्त काम्ट ने सर्वप्रथम सन् 1838 में Sociology शब्द का प्रयोग वैज्ञानिक आधार पर किया; इसलिए काम्ट को 'समाजशास्त्र का जनक' कहा जाता है। Sociology शब्द दो विभिन्न स्थानों के शब्दों से मिलकर बना है। पहला शब्द 'Socius' है; जिसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा से हुई है तथा दूसरा शब्द 'Logus' है जो ग्रीक भाषा से लिया गया है। इन शब्दों का अर्थ क्रमशः समाज तथा शास्त्र अथवा विज्ञान है। इस प्रकार शाब्दिक रूप से Sociology का अर्थ समाज के विज्ञान से है। समाजशास्त्र के अर्थ को वैज्ञानिक रूप से तभी समझा जा सकता है जबकि इससे सम्बन्धित दोनों शब्दों समाज और शास्त्र को भली-भाँति स्पष्ट कर लिया जाए। समाज व्यक्तियों का समूह न होकर इससे बिल्कुल भिन्न है। **लेपियर** का कथन है, "समाज मनुष्यों के एक समूह का नाम नहीं है बल्कि मनुष्यों के बीच होने वाली अन्तः क्रियाओं और इनके प्रतिमानों को ही हम समाज कहते हैं।"

**शास्त्र** या **विज्ञान** का अर्थ क्रमबद्ध और व्यवस्थित ज्ञान से है। इस प्रकार समाज और शास्त्र शब्दों का अलग-अलग अर्थ समझने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "सामाजिक सम्बन्धों का व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप से अध्ययन करने वाले विज्ञान का नाम ही समाजशास्त्र है।'

समाजशास्त्र की परिभाषाएँ-साधारणतया सभी समाजशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है लेकिन फिर भी उनके दृष्टिकोण में समानता नहीं है। अध्ययन की सरलता के लिए समाजशास्त्र की परिभाषाओं को चार प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है-

**(1)** **समाजशास्त्र समाज का अध्ययन-**इस वर्ग में वे समाजशास्त्री आते हैं; जिनके अनुसार समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का व्यवस्थित और क्रमबद्ध अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इन्होने समाजशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार दी है-

**वार्ड** के अनुसार, **"समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।"**

**गिडिंग्स** के अनुसार, **"समाजशास्त्र समग्र रूप में समाज का व्यवस्थित वर्णन और व्याख्या है।"**

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र में मानव समाज का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाता है।

**(2)** **समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन-**इस वर्ग में वे समाजशास्त्री आते हैं: जिनके अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन व्यवस्थित रूप से करता है। इस अर्थ में समाजशास्त्र की परिभाषा निम्नांकित विद्वानों ने दी है-

**मैकाइवर एवं पेज** के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है, सम्बन्धों के इसी जाल को हम समाज कहते हैं।"

**क्यूबर** के अनुसार, **"समाजशास्त्र को मानवीय सम्बन्धों के वैज्ञानिक ज्ञान की व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"**

इन परिभाषाओं से यही स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र की वास्तविक विषयवस्तु सामाजिक सम्बन्ध ही हैं।

**(3)** **समाजशास्त्र सामाजिक अन्तःक्रियाओं का अध्ययन-**इस वर्ग में आने वाले समाजशास्त्री यह स्पष्ट करते हैं कि समाज का वास्तविक आधार सामाजिक अन्तःक्रियाएँ हैं। इसलिए इन्होंने समाज शास्त्र को केवल सामाजिक अन्तः क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान माना है। इन्होंने इसी

अर्थ में समाजशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार से दी है-

"**गिलिन और गिलिन** के अनुसार, व्यकितयों के एक-दूसरे के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्तःक्रियाओं के अध्ययन को ही समाजशास्त्र कहा जा सकता है।"

**हॉबहाउस** के अनुसार, "समाजशास्त्र की विषयवस्तु मानव मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली अन्तःक्रियाएँ ही हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र में सामाजिक अन्तःक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

**(4)** **समाजशास्त्र समूहों का अध्ययन-**इस वर्ग में आने वाले समाजशास्त्रियों में हेनरी जॉन्सन प्रमुख माने जाते हैं। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि समाजशास्त्र में सामाजिक समूहों का अध्ययन किया जाता है। उन्होंने इस बात का समर्थन करते हुए समाजशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार से दी है-"समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का विज्ञान है.... सामाजिक समूह सामाजिक अन्तः क्रियाओं की ही एक व्यवस्था है।"

- इस परिभाषा में जॉन्सन ने यह स्पष्ट किया है कि समाजशास्त्र को केवल सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करने वाला विज्ञान नहीं माना जा सकता है बल्कि इसे सामाजिक समूहों का विज्ञान माना जाना चाहिए।
- उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक सम्बन्धों का व्यवस्थित अध्ययन करता है तथा सामाजिक सम्बन्धों को समझने के लिए सामाजिक क्रिया, सामाजिक अन्तः क्रिया और सामाजिक मूल्यों के अध्ययन को आवश्यक मानता है।

## bdkb&2
## समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र

समाजशस्त्र के अध्ययन के क्षेत्र को स्पष्ट करने सम्बन्धी दो विचारधाराएँ हैं। इन विचारधाराओं को हम क्रमशः स्वरूपात्मक सम्प्रदाय और समन्वयात्मक सम्प्रदाय की विवेचना द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं-

### I. स्वरूपात्मक सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के समर्थकों में सिमैल, मैक्स वेबर, टॉनीज, वीरकांत और वानविज आदि प्रमुख हैं। इनका मत है कि समाजशास्त्र अभी एक नया विज्ञान है। इस स्थिति में यदि हम इसे सम्पूर्ण समाज का एक सामान्य अध्ययन बनाने की कोशिश करेंगे तो समाज का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करना बहुत कठिन हो जाएगा। दूसरी बात यह भी है कि समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र विज्ञान बनाना आवश्यक है। ऐसा हम तभी कर सकते हैं जब समाजशास्त्र में केवल सामाजिक सम्बन्धों के एक विशेष पक्ष का ही अध्ययन किया जाये। यदि हम समाजशास्त्र में सभी तरह के सम्बन्धों का अध्ययन करने लगेंगे, तब यह अनिवार्य रूप से दूसरे अन्य सामाजिक विज्ञानों; जैसे-अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान आदि पर निर्भर बना रहेगा। स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के इसी दृष्टिकोण को इनके समर्थकों ने भिन्न-भिन्न रूप से समझाने का प्रयास किया है; जैसे-

**(1)** **जार्ज सिमैल के विचार-**प्रसिद्ध जर्मन समाजशास्त्री सिमैल का कथन है कि एक स्वतन्त्र और विशेष विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र को केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों की विवेचना और

विश्लेषण से ही सम्बन्धित होना चाहिए। अपने कथन को स्पष्ट करने के लिए सिमैल ने सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप और अन्तर्वस्तु में भेद किया है। आपका विचार है कि सभी भौतिक और अभौतिक वस्तुओं का एक स्वरूप होता है और एक अन्तर्वस्तु। उदाहरण के लिए यदि हम एक मेज की लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई को देखें तो यह उस मेज का स्वरूप होगा, लेकिन यह मेज लकड़ी की बनी है या लोहे की, पत्थर की है अथवा संगमरमर की ; यह विशेषता उसकी अन्तर्वस्तु को स्पष्ट करेगी। ठीक इसी तरह सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप और अन्तर्वस्तु को भी एक दूसरे से अलग किया जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रतिस्पर्धा, अधीनता, सहयोग, प्रभुत्व, अनुकरण तथा श्रम विभाजन सामाजिक सम्बन्धों के कुछ विशेष स्वरूप हैं; जबकि राजनीति, धर्म, दर्शन तथा आर्थिक संघ सामाजिक सम्बन्धों की वह अन्तर्वस्तु है जिसमें उपर्युक्त स्वरूप विद्यमान रहते हैं। यहीं पर समाजशास्त्र तथा दूसरे सामाजिक विज्ञानों के बीच अन्तर स्पष्ट हो जाता है क्योंकि दूसरे सामाजिक विज्ञान सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु का अध्ययन करते हैं जबकि सामाजशास्त्र केवल सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करने तक ही सीमित है। सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप, कुछ सम्बन्धों का एक विशेष भाग है; इसीलिए समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान की श्रेणी में रखना उचित होगा।

(2) **वीरकांत के विचार**-वीरकांत ने भी समाजशास्त्र को एक विशेष सामाजिक विज्ञान बताते हुए इसे सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन कहा है। आपके अनुसार समाजशास्त्र उन मानसिक सम्बन्धों; जैसे-यश, प्रेम, घृणा, सम्मान तथा समर्पण आदि का अध्ययन है जो व्यक्तियों को एक समूह से अथवा एक-दूसरे से बाँधे रखते हैं। इस प्रकार समाजशास्त्र किसी विशेष समाज का ऐतिहासिक अध्ययन नहीं है; समाजशास्त्र केवल उन्हीं सम्बन्धों का अध्ययन करता है जो सामाजिक व्यवस्था को स्थायी बनाए रखते हैं अथवा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। इस ध रणा द्वारा वीरकांत ने यह स्पष्ट किया है कि समाजशास्त्र को एक विशेष सीमा के बाहर जाना उचित नहीं है। इसीलिए समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान माना जाता है।

(3) **मैक्स वेबर के विचार**-वेबर के अनुसार, समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। दूसरे शब्दों में समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक व्यवहारों को समझना तथा उसकी व्याख्या करना है। वेबर के अनुसार सामाजिक व्यवहारों का तात्पर्य सभी सामाजिक सम्बन्धों से नहीं होता बल्कि सामाजिक व्यवहारों का निर्धारण केवल उन्हीं सम्बन्धों से होता है; जिन्हें सामाजिक क्रियाएँ कहा जाता है। सामाजिक क्रियाएँ वैसे व्यवहार हैं, जो अर्थपूर्ण होते हैं और दूसरे व्यक्ति के व्यवहारों से प्रभावित होते है। समाजशास्त्र में केवल इन्हीं सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। वेबर का विचार है कि सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन के द्वारा ही समाजशास्त्रीय नियमों को तार्किक और अनुभव सिद्ध बनाया जा सकता है। समाजशास्त्र यदि सभी तरह के सम्बन्धों का अध्ययन करने लगे तो इसके नियमों में तर्क और अनुभव का अभाव हो जायेगा। इस दृष्टिकोण से भी समाजशास्त्र एक विशेष सामाजिक विज्ञान है।

(4) **टॉनीज के विचार**-टॉनीज ने समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान के रूप में स्पष्ट करने के लिए विशुद्ध समाजशास्त्र की धारणा का उल्लेख किया। यह विशुद्ध समाजशास्त्र वह है; जिसमें अन्य सामाजिक विज्ञानों की विषयवस्तु का मिश्रण न हो तथा इसके नियम अन्य विज्ञानों के नियमों से बिलकुल स्वतन्त्र हों।

(5) **वॉनविज के विचार**-वॉनविज ने सामाजिक सम्बन्धों के 650 स्वरूपों का उल्लेख करके समाजशास्त्र के क्षेत्र को इन्हीं स्वरूपों के अध्ययन से सम्बन्धित माना है।

**स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना**-स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के समर्थकों ने अपनी बात को बहुत व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है, लेकिन इसके बावजूद भी इसमें कई दोष पाए जाते हैं। जैसे-

(1) स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के इस कथन में विश्वास नहीं किया जा सकता है कि समाजशास्त्र एक नवीन विज्ञान है; इसलिए इसका अध्ययन क्षेत्र सीमित होना चाहिए। यदि पुरानी धारणाओं की जगह आज का समाजशास्त्र नई धारणाओं पर आधारित है तो इसे एक नवीन विज्ञान तो नहीं कहा जा सकता। कम से कम भारत में तो समाजशास्त्रीय अध्ययनों का इतिहास हजारों वर्ष प्राचीन रहा है।

(2) यह सम्प्रदाय समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करने के लिए इसलिए जोर देता है कि इन स्वरूपों का अध्ययन किसी दूसरे सामाजिक विज्ञान में नहीं किया जाता। यह कथन गलत है। सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों; जैसे-प्रभुत्व, सत्ता, शक्ति, संघर्ष, स्वामित्व और आज्ञा-पालन आदि का अध्ययन कानून-शास्त्र में समाजशास्त्र से भी अधिक व्यवस्थित और स्पष्ट रूप से किया जाता है। फिर इसी धारणा के आधार पर समाजशास्त्र को एक विशेष सामाजिक विज्ञान किस प्रकार बनाया जा सकता है।

(3) सबसे मुख्य बात तो यह है कि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप और अन्तर्वस्तु को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। सोरोकिन का कथन है कि यह विश्वास किसी तरह भी नहीं किया जा सकता है कि एक सामाजिक संस्था; जैसे-विवाह, शिक्षा प्रणाली अथवा कानून के स्वरूप में परिवर्तन हो जाने पर भी उसकी आंतरिक विशेषताएँ पहले जैसी ही बनी रहेंगी। इस प्रकार जब स्वरूप और अन्तर्वस्तु को एक-दूसरे से पृथक् ही नहीं किया जा सकता, तब इसके आधार पर समाज के क्षेत्र को किस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है?

(4) इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने समाजशास्त्र को अन्य विज्ञानों से पृथक् करके इसे एक बिल्कुल स्वतन्त्र विज्ञान बनाने का प्रयत्न किया है। वास्तव में ऐसा होना बहुत सन्देहपूर्ण है क्योंकि सभी सामाजिक विज्ञान किसी न किसी प्रकार से एक-दूसरे पर निर्भर अवश्य हैं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र के क्षेत्र को स्पष्ट करने में स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के विचारों को सही नहीं माना जा सकता।

### II. समन्वयात्मक सम्प्रदाय

समन्वयात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थक सोरोकिन, दुर्खीम, हॉबहाउस और गिन्सबर्ग आदि हैं। इनका विचार है कि समाजशास्त्र एक विशेष विज्ञान नहीं बल्कि सामूहिक सम्बन्धों का एक सामान्य विज्ञान है। सामान्य विज्ञान का तात्पर्य है कि यह समाज की कुछ विशेष दशाओं का ही अध्ययन नहीं करता बल्कि इसका कार्य सम्पूर्ण समाज की सभी सामान्य विशेषताओं का अध्ययन करना है। समाजशास्त्र में सम्पूर्ण समाज का सामान्य अध्ययन करना क्यों आवश्यक है? इसके लिए इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने दो प्रमुख तर्क दिये हैं।

(1) समाज की प्रकृति एक जीव रचना की तरह है; जिस प्रकार जीव रचना के सभी अंग एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहते हैं, उसी तरह समाज के सभी पक्ष भी एक-दूसरे से संबंधित हैं। इसका तात्पर्य है कि उसी तरह समाज को हम तब तक नहीं समझ सकते जब तक इसकी विभिन्न इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्ध को न समझ लिया जाए क्योंकि समाज के एक भाग में होने वाला परिवर्तन दूसरे सभी भागों को प्रभावित करता है। समाजशास्त्र को एक विशेष और स्वतन्त्र विज्ञान बना देने से

यह कार्य किसी भी तरह नहीं किया जा सकता।

(2) समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र इसलिए भी सामान्य होना जरूरी है कि दूसरे सभी सामाजिक विज्ञान समाज के केवल एक विशेष भाग का ही अध्ययन करते हैं। ऐसा कोई दूसरा सामाजिक विज्ञान नहीं है, जो सम्पूर्ण समाज का सामान्य दृष्टिकोण से अध्ययन करता हो। वास्तव में यह कार्य समाजशास्त्र द्वारा ही किया जा सकता है।

सोरोकिन, दुर्खीम और हॉबहाउस के विचारों से इस सम्प्रदाय के दृष्टिकोण को अधिक अच्छी तरह समझा जा सकेगा।

**(1) सोरोकिन के विचार**-सोरोकिन का कथन है कि सभी सामाजिक विज्ञान किसी न किसी रूप में एक-दूसरे पर निर्भर हैं; इसलिए किसी भी सामाजिक विज्ञान को पूरी तरह से स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। इस आधार पर यह काम समाजशास्त्र का है कि वह विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों अथवा उनके सामान्य तत्त्वों का अध्ययन करे। अपने कथन को स्पष्ट करने के लिए सोरोकिन ने निम्नांकित सूत्र का उपयोग किया है

| | |
|---|---|
| आर्थिक (सम्बन्ध) | A, B, C, D, E, F |
| राजनीतिक | A, B, C, G, H, I |
| धार्मिक | A, B, C, J, K, L |
| वैधानिक | A, D, C, M, N, O |
| मनोरंजनात्मक | A, B, C, P, P, R |

इससे स्पष्ट होता है कि हम कोई भी क्रिया करें; चाहे वह आर्थिक हो अथवा राजनीतिक, धार्मिक हो अथवा वैधानिक अथवा मनोरंजनात्मक, सभी क्रियाओं में कुछ तत्त्व सामान्य अवश्य होते हैं जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण में A, B, C सभी क्षेत्रों में विद्यमान, सामान्य तत्त्व हैं। समाजशास्त्र का कार्य इन सामान्य अन्तर्सम्बन्धों का ही अध्ययन करना है। इस प्रकार समाजशास्त्र का दृष्टिकोण और अध्ययन क्षेत्र सामान्य होना आवश्यक है।

**(2) दुर्खीम के विचार**-दुर्खीम ने समाजशास्त्र के क्षेत्र की विवेचना सामान्य आधार पर करने के बाद भी स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के विचारों की अधिक कटु आलोचना नहीं की है। इस प्रकर दुर्खीम ने समाजशास्त्र को विशिष्ट विज्ञान के माध्यम से एक सामान्य विज्ञान बनाने पर जोर दिया है। दुर्खीम का विचार है कि समाजशास्त्र को सबसे पहले एक विशेष विज्ञान का रूप मिलना चाहिए; जिससे इसके पास भी दूसरे विज्ञानों की तरह अपने स्वतन्त्र नियम हों। इस आधार पर समाजशास्त्र में सबसे पहले उन सामाजिक तथ्यों का अध्ययन होना चाहिए जो सामूहिक प्रतिनिधियों का निर्माण करते हैं और जिनके द्वारा समाज की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। समाजशास्त्र जब एक विज्ञान हो जाएगा तभी यह आगे चलकर समाज को समझने के लिए अन्य विद्वानों का सामान्यीकरण कर सकेगा। इस प्रकार अन्त में यह एक सामान्य सामाजिक जीवन बन जाएगा। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए दुर्खीम लिखते हैं कि" समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधानों का विज्ञान है।" इसे स्पष्ट करते हुए दुर्खीम ने बताया है कि प्रत्येक समाज में प्रथाओं व परम्पराओं के आधार पर कुछ सामूहिक विचारधाराएँ विकसित हो जाती हैं। समाज के सभी सदस्य इन सामूहिक विचारधाराओं के अनुसार ही विचार और व्यवहार करते है। इस प्रकार समाज की ये सामूहिक भावनाएँ एक सामूहिक

शक्ति का रूप ले लेती हैं। इसी शक्ति को दुर्खीम ने सामूहिक प्रतिनिधान कहा है। इन सामूहिक प्रतिनिधानों का अध्ययन करने से समाजशास्त्र समाज का सामान्य अध्ययन ही नहीं बन जायेगा बल्कि इसका अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण भी होगा।

**(3) हॉबहाउस के विचार**-हॉबहाउस ने भी समाजशास्त्र को समाज के एक सामान्य विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया है। आपका विचार है कि समाजशास्त्र का प्रमुख कार्य विभिन्न सामाजिक विज्ञानों से प्राप्त परिणामों में से सामान्य तत्त्वों को ढूँढना और उनका सामान्यीकरण करना है। यह कार्य समाजशास्त्र तीन प्रकार से कर सकता है

(1) सभी सामाजिक विज्ञानों की प्रमुख धारणाओं का सामान्य स्वरूप स्पष्ट करके।

(2) समाज को स्थायी रखने वाले और समाज को बदलने वाले कारकों का पता लगाकर।

(3) सामाजिक विकास की प्रवृत्ति और दशाओं को ज्ञात करके।

यह कार्य समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान बनाकर नहीं बल्कि एक सामान्य सामाजिक विज्ञान बनाकर ही किया जा सकता है।

**समन्वयात्मक सम्प्रदाय की आलोचना**-समन्वयात्मक सम्प्रदाय में निम्नांकित कमियाँ निकाली गयी हैं-

(1) यदि समाजशास्त्र में सभी प्रकार के सामाजिक तथ्यों एवं प्रघटनाओं का अध्ययन किया जाता है तो वह अन्य सामाजिक विज्ञानों की खिचड़ी मात्र बनकर रह जाएगा।

(2) यदि समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान बन जाता है तो इसका अपना कोई स्वतन्त्र क्षेत्र नहीं रह पाएगा। ऐसी स्थिति में इसे अन्य विज्ञानों पर निर्भर रहना पड़ेगा।

(3) यदि समाजशास्त्र में सभी प्रकार के तथ्यों तथा प्रघटनाओं का अध्ययन किया जाता है तो वह ऐसी दशा में किसी भी तथ्य या घटना का अध्ययन पूर्णता के साथ नहीं कर सकेगा।

(4) यदि समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का योग बनकर रह जाएगा तो इसकी अपनी कोई निश्चित पद्धति विकसित नहीं हो पाएगी।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र सम्बन्धी ये दोनों सम्प्रदाय ऊपर से विरोधी लगते हैं लेकिन वास्तव में ये विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं, जिसे हम विशेष सम्बन्धों का समाजशास्त्र कहते हैं। उसमें कुछ सामान्य विशेषताओं का भी समावेश होता है और जिसे समन्वयात्मक सम्प्रदाय ने सामानय सम्बन्धों का समाजशास्त्र कहा है, उसमें कुछ विशेष सम्बन्ध भी पाए जाते हैं। कोई भी सामाजिक विज्ञान न तो पूरी तरह से विशेष हो सकता है और न ही उसका पूर्णतया सामान्य होना सम्भव है। उदाहरण के लिए; जिस चिकित्सक को हम किसी एक रोग का विशेषज्ञ मानते हैं, उसे अन्य रोगों की चिकित्सा करने की भी कुछ जानकारी अवश्य होती है और उसे हम सभी रोगों की चिकित्सा करने वाला डॉक्टर कहते हैं। उसमें भी किसी एक रोग की चिकित्सा करने का ज्ञान और अनुभव अधिक होता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'सामान्यता और विशेषता' साथ-साथ चलती हैं। इनमें से एक अधिक और दूसरी कम हो सकती है, लेकिन किसी भी विशेषता का पूर्ण अभाव नहीं हो सकता। इस प्रकार समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को भी केवल विशेष अथवा सामान्य सम्बन्धों के आधार पर ही स्पष्ट करना असंगत होगा। समाज एक जटिल व्यवस्था है; जिसमें सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के सम्बन्धों का समान महत्त्व है।

**(1) समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का अध्ययन है-**समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ है; समाज का शास्त्र अथवा समाज का विज्ञान। इसी आधार पर अनेक विद्वानों ने भी समाजशास्त्र को समूचे समाज का अध्ययन करने वाला विज्ञान बताया है। कुछ प्रमुख विद्वानों ने समाजशास्त्र की परिभाषा इसी प्रकार दी है-

(1) **वार्ड** के अनुसार, "समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।"

(2) **गिडिंग्स** के अनुसार, "समाजशास्त्र समग्र रूप में समाज का व्यवस्थित वर्णन और व्याख्या है।"

(3) **किंग्सले डेविस** के अनुसार, "समाजशास्त्र मानव समाज का अध्ययन है।"

(4) **ओडम** के कथानुसार, "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।"

(5) **इंकल्स** के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं की व्यवस्थाओं एवं उनके अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र समूचे समाज का अध्ययन करता है। इंकल्स का इस बारे में कहना है कि समाजशास्त्र समाज के केवल किसी एक अंग का अध्ययन न कर सम्पूर्ण समाज को एक इकाई मानकर अध्ययन करता है। सम्पूर्ण समाज समाजशास्त्र के विश्लेषण की इकाई है। इस अर्थ में समाजशास्त्र समाज का निर्माण करने वाली विभिन्न संस्थाओं एवं विभिन्न समाज व्यवस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र समाज का इस प्रकार का अध्ययन दो प्रकार से करता है-प्रथम; विशिष्ट समाज के आन्तरिक विभेदीकरण के अध्ययन के रूप में तथा द्वितीय-सभी समाजों को एक जनसंख्या मानकर उनकी पहचान योग्य विशिष्ट विशेषताओं के रूप में। समाजशास्त्र इस प्रकार के प्रश्नों की खोज करता है-समाज के विकास के स्तर क्या हैं? समाज की आन्तरिक समस्याएँ कौनसी हैं, समाज के निर्णायक तत्त्व कौनसे हैं? समाज के कार्यों का विभाजन किस प्रकार से किया जाता है? विभिन्न प्रकार की संस्थाओं को संयुक्त करने के क्या परिणाम होंगे? औद्योगिक संस्थाएँ संयुक्त परिवार को किस प्रकार प्रभावित करती हैं? आदि।

समाज की प्रकृति एक जीवधारी के समान होती है। इसके विभिन्न अंग एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप सम्बन्धित हैं। इसके एक अंग में परिवर्तन होने पर दूसरे अंग भी प्रभावित होते है। अतः समाज को समझने के लिए उसकी विभिन्न ईकाइयों या अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना अत्यन्त आवश्यक है। अतः समाजशास्त्र समूचे समाज का अध्ययन करता है।

**(2) समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है-**इंकल्स ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु में सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन को भी सम्मिलित किया है। समाज सामाजिक संस्थाओं की ही जटिल व्यवस्था है। संस्था समाज द्वारा मान्यता प्राप्त कार्यप्रणाली है। संस्था का क्षेत्र सम्पूर्ण समाज होता है तथा इसका दीर्घकालीन स्थायित्व होता है। संस्थाएँ समाज के सदस्यों के मौलिक हितों या स्वार्थों की पूर्ति करती हैं। संस्थाओं का समाज के सदस्यों पर व्यापक तथा शक्तिशाली नियन्त्रण होता है। परिवार, विवाह पाठशाला, धर्म (चर्च) राजनीतिक दल आदि अनेक सामाजिक संस्थाएँ समाजशास्त्र की विशिष्ट विषयवस्तु हैं अर्थात् समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन के अन्तर्गत सभी संस्थाओं की विशेषताएँ, उनके विभिन्न पक्षों में भेद, संस्थाओं के आकार, विशेषीकरण की मात्रा तथा स्वायत्ता में समानताएँ, विभिन्न संस्थाओं के कार्य, उनके विकास आदि का अध्ययन करता है। दुर्खीम ने भी अपनी पुस्तक 'Rules of Sociological Method' में स्वीकार किया है कि समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है।

## समाजशास्त्र की विषय-वस्तु (Subject-mattert of Sociology)

**समाजशास्त्र की विषय वस्तु**-उन निश्चित विषयों से सम्बन्धित है; जिन्हें समाजशास्त्रीय अध्ययनों के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। यद्यपि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, तथापि अधिकांश समाजशास्त्री सामाजिक प्रक्रियाएँ, संस्थाएँ, सामाजिक अन्तः क्रियाएँ एवं सामाजिक सम्बन्धों को ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के अन्तर्गत शामिल करते हैं। मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक क्रिया का अध्ययन करने वाला विज्ञान कहा है जबकि मैकाइवर तथा पेज के अनुसार "समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का विषय है।" वॉनविज का कथन है कि सामाजिक सम्बन्ध ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का एकमात्र वास्तविक आधार है। विभिन्न विद्वानों द्वारा किया गया; समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्गीकरण निम्न प्रकार है

**I.** **दुर्खीम के विचार**-दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को तीन भागों में बाँटा है

**(1)** **सामाजिक रचनाकर**-इसके अन्तर्गत जीवन पर भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव और सामाजिक संगठन से उसके सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त जनसंख्या का घनत्व व विभिन्न स्थानों पर जनसंख्या का वितरण भी इसी के अन्तर्गत लिया जाता है।

**(2)** **सामाजिक दैहिकी**-यह उन आधारभूत समस्याओं का अध्ययन करती है जो समाजरूपी शरीर का निर्माण करने तथा उसे समझने के लिए आवश्यक है; जैसे विधि, धर्म, भाषा, पारिवारिक जीवन आदि। ये सभी विषय इतने महत्वपूर्ण हैं कि प्रत्येक पर एक नवीन समाजशास्त्र की रचना हो चुकी है; जैसे-धर्म का समाजशास्त्र, विधि का समाजशास्त्र, पारिवारिक समाजशास्त्र आदि।

**(3)** **सामान्य समाजशास्त्र**-इसका कार्य सामाजिक तथ्यों के सामान्य रूप को ज्ञात करना तथा ऐसे सामान्य नियमों की खोज करना है जो अन्य सामाजिक विज्ञानों के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं।

**II.** **गिन्सबर्ग के विचार**-गिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र की विषय-सामग्री के निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया है-

**(1)** **सामाजिक स्वरूपशास्त्र**-इस श्रेणी में वे विशेषताएँ आती हैं जो समाज के आकार अथवा स्वरूप का निर्माण करती हैं; जैसे-जनसंख्या के गुण और आकार। इसके अतिरिक्त समाजशास्त्र उन सामाजिक समूहों तथा संस्थाओं का भी अध्ययन करता है, जो सामाजिक ढाँचे का निर्माण करती है।

**(2)** **सामाजिक प्रक्रियाएँ**-इस प्रक्रिया के अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तियों के बीच और अनेक समूहों के बीच व्याप्त सहयोग, संघर्ष, प्रभुत्व, अनुकरण, प्रतिस्पर्धा व स्वाधीनता आदि सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

**(3)** **सामाजिक नियंत्रण**-इसके अन्तर्गत उन विषयों को सम्मिलित किया जाता है, जो सामाजिक जीवन को नियंत्रण में बनाए रखने के लिए जरूरी हैं; जैसे-धर्म, परम्परा, जन-रीति, लोक-नीति, नैतिकता, विश्वास एवं विधि संहिता इत्यादि।

**(4)** **सामाजिक व्याधिकी**-इसमें सामाजिक समस्याओं एवं विघटनकारी कारकों; जैसे-अपराध, आत्महत्या, बेकारी और सामाजिक विघटन के फलस्वरूप उत्पन्न अनेक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

**III. मेरिल एवं एल्डरिज के विचार**-समाजशास्त्र की विषय-सामग्री के अन्तर्गत निम्नांकित बातें आती हैं-

1. समाजशास्त्र मानव के सम्बन्धों के व्यापक क्षेत्र पर विचार करने वाला एक सामान्य विज्ञान है।
2. समाजशास्त्र मानवीय सम्बन्धों के उत्पादों का भी अध्ययन करता है। इन उत्पादों को संस्कृति के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है।
3. समाजशास्त्र सामाजिक मूल्यों पर भी विचार करता है, क्योंकि वे मानवीय सम्बन्धों के स्रोत होते हैं।
4. **जार्ज सिमेल के विचार**-जॉर्ज सिमेल के मत में समाजशास्त्र की विषय-सामग्री सामाजिक प्रक्रियाएँ हैं।
5. **यूटर व हार्ट** ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को तीन भागों में विभाजित किया है
    1. सामाजिक विरासत
    2. व्यक्तित्व एवं विकास
    3. सामाजिक प्रक्रिया

**6. सोरोकिन के अनुसार समाजशास्त्र की विषयवस्तु-**

1. समाज के विभिन्न वर्गों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन है; जैसे-आर्थिक व धार्मिक क्रियाओं का सम्बन्ध।
2. असामाजिक एवं सामाजिक घटनाओं का पारस्परिक सम्बन्ध भी समाजशास्त्र की विषय-वस्तु है; जैसे-भौगोलिक एवं जैविक दशाएँ।
3. तीसरे, सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं को सम्मिलित किया जा सकता है। अतः संक्षेप में समाज के सभी वर्गों में पाए जाने वाले सामान्य लक्षणों व विशेषताओं का अध्ययन समाजशास्त्र की विषय-वस्तु है।

7. **प्रो. इंकल्स के विचार**-इंकल्स ने अपनी पुस्तक What is Sociology में समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के निर्धारण के तीन पथ बताए हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. ऐतिहासिक पथ
2 आनुभविक पथ
3. विश्लेषणात्मक पथ। यथा-

**(i) ऐतिहासिक पथ-**

- इसके अन्तर्गत समाजशास्त्र के प्रवर्तक विद्वानों के लेखों, कार्यों आदि के आधार पर समाजशास्त्र की विषयवस्तु का निर्धारण किया जाता है। आधुनिक समाजशास्त्र के विकास में चार समाजशास्त्रियों-आगस्त काम्टे, हरबर्ट स्पेंसर, दुर्खीम तथा मैक्स वेबर के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त अमरीकन समाजशास्त्रीय संगठन के सदस्यों के लेखों आदि के अध्ययन

को भी इसके अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। इस आधार पर ऐतिहासिक पथ के अन्तर्गत इंकल्स ने समाजशास्त्र के निम्नलिखित विषय बताए हैं-

**(A) समाजशास्त्रीय विश्लेष -**

(i) मानव संस्कृति और समाज

(ii) समाजशास्त्रीय सन्दर्भ

(iii) सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिक पद्धति।

**(B) सामाजिक जीवन की प्राथमिक ईकाइयाँ-**

(i) सामाजिक क्रिया तथा सामाजिक सम्बन्ध।

(ii) मानव का व्यक्तित्व

(iii) समूह (प्रजापति और वर्ग भी सम्मिलत हैं)

(iv) समुदाय (नगरीय एवं ग्रामीण)

(v) समितियाँ और संगठन

(vi) जनसंख्या

(vii समाज

**(C) आधारभूत सामाजिक संस्थाएँ-**

(i) परिवार और नातेदारी

(ii) आर्थिक संस्थाएँ

(iii) राजनैतिक व वैधानिक संस्थाएँ

(iv) धार्मिक संस्थाएँ

(v) शैक्षणिक व वैज्ञानिक संस्थाएँ

(vi) मनोरंजनात्मक व कल्याणकारी संस्थाएँ

(vii) कलात्मक तथा अभिव्यक्ति सम्बन्धी संस्थाएँ।

**(D) मौलिक व सामाजिक प्रक्रियाएँ-**

(i) विभेदीकरण तथा स्तरीकरण

(ii) सहयोग, समायोजन तथा सरलीकरण

(iii) सामाजिक संघर्ष (क्रान्ति व युद्ध भी सम्मिलित है)

(iv) संचार (जिसमें जनमत निर्माण तथा परिवर्तन भी सम्मिलित हैं।)

(v) समाजीकरण तथा सैद्धान्तीकरण

(vi) सामाजिक मूल्यांकन (सामाजिक मूल्यों का अध्ययन)

(vii) सामाजिक अवधान (अपराध तथा आत्महत्या इत्यादि)

(viii) सामाजिक परिवर्तन।

**(ii) आनुभविक पथ-**इसके अन्तर्गत हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि आजकल समाजशास्त्री किस प्रकार की समस्या का अध्ययन कर रहे हैं, उनकी अध्ययन पद्धति क्या है और वे अध्ययन किन विषयों से सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध में अध्ययन के जो विषय उभर कर आए हैं; उनमें प्रमुख हैं-वैज्ञानिक विधि, व्यक्तित्व ओर समाज, सांस्कृतिक मानव समूह, जनसंख्या, जाति एवं वर्ग, प्रजाति, सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक संस्थाएँ, शिक्षा, परिवार, धर्म, सामुदायिक जीवन, सामाजिक समस्याएँ आदि।

**(iii) विश्लेषणात्मक पथ-**इसके अन्तर्गत इस बात पर बल दिया जाता है कि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का निर्धारण तार्किक विश्लेषण के आधार पर किया जाना चाहिए, न कि समाजशास्त्र की नींव डालने वालों तथा वर्तमान के समाजशास्त्रियों की विषय-वस्तु के आधार पर। इस पथ के मानने वाले विद्वानों का मत है कि प्रत्येक मानवीय विज्ञान की शाखा की अपनी विषयवस्तु है; समाजशास्त्र की भी कोई मूर्त एवं विशिष्ट विषय-वस्तु होनी चाहिए; जिसका अध्ययन अन्य विज्ञानों में नहीं किया जाता हो। इस आधार पर यह कहा जाता है कि प्रमुख संस्थाएँ, सामाजिक उत्पादन तथा सामाजिक क्रियाएँ वे क्षेत्र हैं, जिन पर अन्य कोई विज्ञान दावा नहीं करता है। ये विषय ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु हैं। मोटे रूप से वे समाज, संस्था और सामाजिक सम्बन्धों को ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के रूप में देखते हैं।

**8. कार्ल मैनहीम के विचार-**मैनहीम ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को दो भागों में विभाजित करके स्पष्ट किया है; जैसे-(i) व्यवस्थित तथा सामान्य समाजशास्त्र (ii) ऐतिहासिक समाजशास्त्र

- **व्यवस्थित तथा सामान्य समाजशास्त्र-**व्यक्तियों द्वारा समाज में मिल-जुल कर रहने से सम्बन्धित कारकों का अध्ययन करते हैं। ये कारक चाहे किसी भी प्रकार के समाज से सम्बन्धि त हों।
- **ऐतिहासिक समाजशास्त्र-**दो प्रमुख भागों में विभाजित है; जैसे-(क) तुलनात्मक समाजशास्त्र (ख) सामाजिक गत्यात्मकता।
- **तुलनात्मक समाजशास्त्र-**ऐतिहासिक आधार पर सामाजिक तथ्यों की विवेचना और तुलना करता है, जबकि सामाजिक गत्यात्मकता; वह शाखा है जो एक समाज में पाए जाने वाले विभिन्न कारकों अथवा संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना करती है।
- **समाजशास्त्र की वास्तविक विषयवस्तु सामाजिक सम्बन्ध ही है-**समाजशास्त्र की विषयवस्तु की उपर्युक्त व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि समाजशास्त्र की वास्तविक विषयवस्तु सामाजिक सम्बन्ध ही है। इसी आधार पर मैकाईवर एवं पेज का कथन है कि "समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है।

**मैक्स वेबर** ने भी समाजशास्त्र को "सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान कहा है।"

**वॉनविज** ने कहा है, "सामाजिक सम्बन्ध ही समाजशास्त्र की विषयवस्तु का एकमात्र वास्तविक आधार है।"

विभिन्न विद्वानों के विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र की विषयवस्तु सामाजिक सम्बन्ध ही है।

## समाजशास्त्र की प्रकृति (Nature Sociology)

समाजशास्त्र की प्रकृति के विश्लेषण के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों में मतभेद व्याप्त है। इसकी प्रकृति के सम्बन्ध में तीन प्रमुख दृष्टिकोण हैं-

(अ) समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है।

(ब) समाजशास्त्र की प्रकृति मानविकी है।

(स) समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति।

समाजशास्त्र की प्रकृति को वैज्ञानिक मानने वाले प्रमुख समाजशास्त्री हैं-अगस्त, काम्टे, दुर्खीम, वेबर, पैरेटो, पारसंस, तथा मर्टन आदि। इन विद्वानों का मत है कि समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है अर्थात समाजशास्त्र किसी भी प्राकृतिक विज्ञान की भाँति एक विज्ञान है। दूसरे, समाजशास्त्र की प्रकृति किसी भी प्राकृतिक विज्ञान की भाँति एक विज्ञान है। दूसरे, समाजशास्त्र की प्रकृति को मानविकी मानने वाले प्रमुख विद्वान हैं--हरबर्ट स्पेंसर, राबर्ट बीरस्टीड तथा सी. राइट मिल्स आदि। इनके मतानुसार समाजशास्त्र उन वर्गों, उन व्यक्तियों और उन समूहों के अध्ययन पर बल देता है जो अभी तक उपेक्षित रहे हैं, जिन्हें व्यवस्था का संपोषण नहीं मिल पाया है; जैसे-आदिम जाति, अविकसित जाति तथा जन-जातियों का अध्ययन। इसमें समाज के अध्ययन के साथ-साथ वैयक्तिक अध्ययन पर जोर दिया जाता है और उसके विषयपरक अध्ययन पर बल दिया जाता है।

यहाँ पर हमारा प्रतिपाद्य विषय समाजशास्त्र की पकृति का विवेचन करना है। यथा-

### (अ) समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है (The Nature of Sociology is Scientific)

समाजशास्त्र किसी भी प्राकृतिक विज्ञान की भाँति एक विज्ञान है।" इसका विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया गया है-

1. **समाजशास्त्रीय ज्ञान का आधार वैज्ञानिक पद्धति-**समाजशास्त्र में तथ्यों को एकत्रित करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति को प्रयोग में लिया जाता है। समाजशास्त्र के द्वारा मूर्त एवं अमूर्त दोनों प्रकार के तथ्यों को एकत्रित करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति; जैसे-अवलोकन, अनुसूची, प्रश्नावली, साक्षात्कार आदि को प्रयोग में लाता है।

2. **अवलोकन द्वारा तथ्यों का संग्रहण करना-**समाजशास्त्र में अनुसंधानकर्ता तथ्यों के संकलन हेतु प्रत्यक्ष निरीक्षण और अवलोकन करता है। समाजशास्त्र में काल्पनिक व दार्शनिक विचारों का कोई स्थान नहीं है। इसमें घटनाओं का निरीक्षण एवं तथ्यों का संकलन अध्ययनकर्ता स्वयं घटनास्थल पर पहुँच कर करता है। यदि वो बाल-अपराध या वेश्यावृत्ति की समस्या का अध्ययन करता है तो वह सम्बन्धित तथ्यों का संकलन स्वयं घटनास्थल पर जाकर करेगा।

3. **तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण-**असम्बद्ध या बिखरे हुए आँकड़ों एवं तथ्यों के आधार पर न तो कोई वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाल सकता है और न ही कोई समाजशास्त्री। सही निष्कर्ष

निकालने के लिए प्राप्त तथ्यों को क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित किया जाना आवश्यक होता है। इसके लिए तथ्यों को समानता के आधार पर विभिन्न वर्गों में विभाजित कर दिया जाता है और यह कार्य वर्गीकरण कहलाता है। वर्गीकरण के पश्चात् तथ्यों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाता है। समाजशास्त्र में भी सही निष्कर्ष निकालने के लिए तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया जाता है। इसीलिए समाजशास्त्र को भी विज्ञान की श्रेणी में रखा जा सकता है।

4. **समाजशास्त्र में क्या है, का अध्ययन किया जाता है-**समाजशास्त्र में वास्तविक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। इसमें इस बात का अध्ययन नहीं किया जाता है कि क्या होना चाहिए। इसमें केवल वास्तविकता का अध्ययन किया जाता है। इसमें क्या है, का अध्ययन किया जाता है, चाहिए का नहीं। अतः इस आधार पर इसे विज्ञान माना जाता है।

5. **कार्य-कारण के सम्बन्धों की व्याख्या-**समाजशास्त्र कार्य-कारण के सम्बन्धों की व्याख्या करता है और उनमें सम्बन्ध स्थापित करता है। घटनाएँ किस प्रकार घटती हैं, किन कारणों से घटती हैं और किन परिणामों की ओर ले जाती हैं। समाजशास्त्र में तथ्यों का विश्लेषण और निरूपण करके घटना के वास्तविक कारणों का भी पता लगाया जाता है। यह काम इस विश्वास के आधार पर किया जाता है कि प्रत्येक सामाजिक घटना किसी न किसी निश्चित कारण के फलस्वरूप घटित होती है। उदाहरणस्वरूप समाजशास्त्र केवल यही नहीं बताता कि भारत में तेजी से सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं वरन् उन कारणों की भी व्याख्या करता है जो इस स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। इस आधार पर भी समाजशास्त्र को विज्ञान माना जा सकता है।

6. **भविष्य की ओर संकेत-**समाजशास्त्र में वर्तमान घटनाओं के आधार पर भविष्य का संकेत देने की क्षमता पाई जाती है; जैसे-वर्तमान में संयुक्त परिवार की संख्या में कमी हो रही है, इस स्थिति को देखकर समाजशास्त्र भविष्य के लिए यह संकेत देता है कि भविष्य में संयुक्त परिवार का विघटन हो सकता है। समाजशास्त्र में भविष्यवाणी करने की शक्ति है; अतः इसे विज्ञान की श्रेणी में रखा जा सकता है।

7. **सिद्धान्तों की स्थापना-समाजशास्त्र में** कार्य-कारण सम्बन्धों की विवेचना की जाती है, तथ्यों या घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात किये जाते हैं। तथ्यों का वर्गीकरण तथा विश्लेषण करके सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं तथा इन्हीं निष्कर्षों के आधार पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त या वैज्ञानिक सिद्धान्तों या नियमों का निर्माण किया जाता है।

8. **समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की पुनर्परीक्षा संभव है-**समाजशास्त्र भी भौतिक विज्ञान या रसायन विज्ञानों की तरह अपने सिद्धान्तों की पुनर्परीक्षा करता है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की जाँच की जा सकती है। यदि उनमें कोई कमी पाई जाती है तो उनमें आवश्यक संशोधन कर दिया जाता है। इस आधार पर भी समाजशास्त्र को विज्ञान माना जाता है।

9. **समाजशास्त्र के सिद्धान्त सार्वभौमिक हैं-**विज्ञान की प्रमुख कसौटी उसके नियमों की व्यापकता एवं सार्वभौमिकता है और समाजशास्त्रीय नियम इस कथन की पुष्टि करते हैं कि कृषि समाजों में परिवार का बड़ा, आकार, औद्योगिक नगरों में अपराधों की अधिक दर, संयुक्त परिवार में स्त्रियों की निम्न स्थिति इत्यादि तथ्यों की प्रकृति सार्वभौमिक है। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाजशास्त्र के नियम सर्वव्यापी है।

उपर्युक्त सभी आधारों पर यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है, इसमें विज्ञान की सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं। इसलिए इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है।

### समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता के विपक्ष में तर्क (सीमाएँ)-

समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता के विपक्ष में विभिन्न विद्वानों ने अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं। कुछ प्रमुख विचारों को निम्नांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है-

**(1)** **समाजशास्त्र में वैज्ञानिक तटस्थता का अभाव**-इसका प्रमुख कारण यह है कि समाजशास्त्री; जिस जाति, समाज, धर्म, परिवार, सामाजिक समस्याओं, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक मूल्यों आदि का अध्ययन करता है, उनमें वह स्वयं भी उतना ही भागीदार होता है तथा इन्हीं का एक अंग भी होता है। अत: वह विषय का अध्ययन पूर्णतः वस्तुनिष्ठ रूप से नहीं कर पाता है। उसके अध्ययन में उसकी स्वयं की रुचि, पूर्वाग्रह, रुझान तथा व्यक्तिगत विचार अवश्य ही बाधक होते हैं। इसी कारण कुछ विद्वान समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं मानते हैं।

**मूल्यांकन**-यह सही है कि जितनी वैषयिकता प्राकृतिक विज्ञानों में पाई जाती है, उतनी समाजशास्त्र में देखने को नहीं मिलती है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र में वैषयिकता का पूरी तरह से अभाव पाया जाता है। आज समाजशास्त्र ने ऐसी पद्धति को विकसित कर लिया है; जिनकी सहायता से अध्ययन को पक्षपात से बचाया जा सकता है। इस कारण से इसे विज्ञान मानने से रोकना अनुचित है।

**(2)** **सामाजिक घटनाओं की माप में कठिनाई**-कुछ विद्वानों का विचार है कि प्राकृतिक विज्ञान इसलिए पूर्ण है क्योंकि इसके अन्तर्गत अध्ययन की जाने वाली वस्तुओं का माप संभव है। सामाजिक घटनाओं को मापा-तोला नहीं जा सकता है, अधिक से अधिक उनकी सामान्य प्रवृत्ति ही बताई जा सकती है। सामाजिक घटनाओं के अमूर्त होने के कारण गणित द्वारा भी निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते हैं, बल्कि अधिकतर निष्कर्ष अनुमान अथवा अवलोकन पर आधारित होते हैं। इस प्रकार सामाजिक तथ्यों का सही माप संभव न होने के कारण भी समाजशास्त्र की प्रकृति को वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है।

**मूल्यांकन**-उपर्युक्त आरोप इस आधार पर सही नहीं हैं कि विज्ञान के लिए माप का होना सदैव अनिवार्य नहीं है। मापने की क्षमता विज्ञान का आवश्यक तत्त्व न होकर केवल एक सहायक तत्त्व है। इसके अतिरिक्त वर्तमान युग में समाजशास्त्रीय ज्ञान में उन्नति होने के साथ ही साथ सामाजिक घटना का माप करना भी संभव होता जा रहा है। फिर समाजशास्त्र को वैज्ञानिक श्रेणी से किस प्रकार वचित किया जा सकता है।

**(3)** **समाजशास्त्र में प्रयोगशाला का अभाव**-समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरूद्ध एक अन्य आपत्ति यह है कि समाजशास्त्र में प्रयोगशाला का अभाव होता है। प्राकृतिक विज्ञानों को यह सुविध पूर्णतः उपलब्ध है कि वे प्रयोग करके सही परिणाम निकाल सकते हैं; जबकि समाजशास्त्र में ऐसा कुछ नहीं है। गार्नर के शब्दों में, ''हम समाज के एक भाग को हाथ में नहीं ले सकते और उसे विभिन्न अवस्थाओं में रखकर टेस्ट ट्यूब में डालकर न तो उसकी परीक्षा कर सकते हैं, न अपनी जिज्ञासा को सन्तुष्ट कर सकते हैं और न सामाजिक समस्याओं का हल खोज सकते हैं। अर्थात जब समाजशास्त्र में प्रयोगशाला पद्धति का प्रयोग नहीं हो सकता तो उसे विज्ञान भी नहीं कहा जा सकता है।

**मूल्यांकन**-उपर्युक्त आपत्ति भी भ्रामक है, क्योंकि समाजशास्त्र के लिए किसी प्रयोगशाला की आवश्यकता नहीं है। समाजशास्त्र की प्रयोगशाला तो सम्पूर्ण समाज है और यही उसके लिए स्वाभाविक भी है।

**स्व-प्रगति की जाँच करें :**

1. समाजशास्त्र के बारे में मैक्स वेबर के विचार स्पष्ट करें।
2. समाजशास्त्र के बारे में सोरोकिन के विचार स्पष्ट करें।
3. समाजशास्त्र के बारे में हॉबहाउस के विचार व्यक्त करें।
4. स्पष्ट करें कि समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है।

**(4) समाजशास्त्र भविष्य के बारे में निश्चित घोषणा नहीं करता-**समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति पर यह आरोप लगाया जाता है कि अन्य विज्ञानों की तरह इसमें भविष्यवाणी करने की योग्यता नहीं सामाजिक घटनाएँ इतनी तेजी से परिवर्तित होती रहती हैं कि जो विशेषताएँ आज विद्यमान हैं; वे कल ही दूसरा रूप ले सकती हैं। ऐसी दशा में समाजशास्त्रीय नियम किसी भी प्रकार की निश्चित भविष्यवाणी करने में असमर्थ रहते हैं। अतः इसे विज्ञान नहीं माना जा सकता है।

**मूल्यांकन-**यह आपत्ति भी एकपक्षीय है क्योंकि कोई भी प्राकृतिक विज्ञान या वैज्ञानिक यह नहीं बताता कि कब क्या होगा। कुछ समय पूर्व तक तो फिर भी यह सम्भावना रहती है। लुण्डबर्ग ने एक उदाहरण देते हुए लिखा है कि गुरुत्वाकर्षण का नियम भी तभी खरा उतरता है जब कुछ अवस्थाएँ विद्यमान हों। इस नियम के अनुसार समान भार की सभी वस्तुएँ पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से समान रूप से प्रभावित होती हैं। कुछ कागज के टुकड़ों को मीनार पर से डालने पर सभी पृथ्वी पर एक साथ नहीं गिरेंगे अर्थात् विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव प्राकृतिक नियमों पर भी पड़ता है। जब सभी प्राकृतिक विज्ञानों की सीमाएँ हैं तो समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता को गलत ठहराना एकपक्षीय है।

**(5) सामाजिक घटनाओं की जटिलता-**समाजशास्त्र को विज्ञान मानने के विरोध में एक अन्य तर्क यह दिया जाता है कि समाजशास्त्र में सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है जो कि काफी जटिल है। एक ही सामाजिक घटना के घटित होने के अनेक कारण होते हैं। अतः उन सभी कारणों तथा उनमें से प्रत्येक के सापेक्ष महत्त्व को निर्धारित करना अत्यन्त ही कठिन कार्य होता है। जबकि भौतिक विज्ञानों में घटनाओं का अध्ययन करते हुए उनके विभिन्न कारणों को अलग किया जाना सम्भव होता है तथा प्रत्येक के सापेक्षिक महत्त्व का भी पता लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में **लुण्डबर्ग** ने लिखा है कि "मानव समूह व्यवहार से सम्बन्धित एक वास्तविक विज्ञान होने के लिए सम्भवतः एक सबसे बड़ी बाधा इसकी अध्ययन वस्तु की जटिलता है।"

**मूल्यांकन-**लेकिन इसकी प्रत्यालोचना करते हुए कुछ विद्वानों ने कहा है कि विषयवस्तु की जटिलता उस समय तक किसी भी प्रकार से विज्ञान कहलाने में बाधक नहीं हो सकती है; जब तक कि अनुसंध नकर्ता वैज्ञानिक प्रवृत्ति को बनाए रखते हुए तथा वैज्ञानिक पद्धति को काम में लेते हुए अध्ययन करे।

**(6) सामाजिक घटनाओं की गतिशील प्रकृति-**सामाजिक घटनाओं की प्रकृति गतिशील होती है। इनकी प्रकृति बदलती रहती है। इस आधार पर भी समाजशास्त्र को विज्ञान मानने में आपत्ति उठाई जाती है क्योंकि सामाजिक घटनाओं की गतिशील प्रकृति होने के कारण इनके आधार पर वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं होता है।

**(7) सार्वभौमिकता का अभाव-**समाजशास्त्र के नियम एवं सिद्धान्त प्रत्येक समय और स्थान पर सत्य साबित नहीं होते। जबकि प्राकृतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों को जहाँ चाहें वहाँ जाँचा या परखा जा सकता है। किसी भी स्थान के या देश के मानव को काटे जाने पर उसके शरीर से रक्त ही निकलेगा। ऐसा नहीं हो सकता है कि किसी के शरीर से रक्त व दूसरे शरीर से पानी या अन्य कुछ पदार्थ निकले; जबकि सामाजिक घटना को भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक ही समय में भिन्न-भिन्न अर्थ प्रदान करते हैं।

**उदाहरणार्थ-**स्त्रियों के पति की मृत्यु पर भिन्न-भिन्न स्त्रियों के दुःख की सीमा भिन्न-भिन्न होती है। शराबी एवं मारपीट करने वाले पति की मृत्यु से उसकी पत्नी को अधिक दुःख नहीं होगा। वह तो सोचती है कि अच्छा हुआ प्रतिदिन की कलह से मुक्ति मिली, लेकिन जब पत्नी की पूरी सुविधाओं का ध्यान रखने वाले तथा भरपूर प्यार देने वाले पति की मृत्यु हो जाए तो उस पत्नी को जो दुःख होता है उसकी कोई सीमा नहीं होती।

अतः भिन्न-भिन्न परिस्थितयों में एक ही घटना के भिन्न-भिन्न परिणाम सिद्धान्तों को सार्वभौमिक नहीं बनने देते।

**मूल्यांकन-**एकरूपता के अभाव के आधार पर सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन नहीं किए जा सकने की बात अपने आप में तर्कहीन है।

### (ब) समाजशास्त्र की प्रकृति मानविकी है-

समाजशास्त्र की प्रकृति मानविकी होने का अभिप्राय यह है कि अनेक सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में अध्ययनकर्ता दया, ममता आदि मानवीय मूल्यों से अभिभूत हो सकते हैं, जिससे सामाजिक घटनाओं के निष्कर्ष का परिणाम स्थिर नहीं रह पाता और समाजशास्त्र विज्ञान कहलाने का हकदार नहीं रहता।

### (स) समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति-

समाजशास्त्र की प्रकृति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है? कुछ विद्वानों का कहना है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान नहीं है तो दूसरे विद्वानों का कहना है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है। जो विद्वान् समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं मानते, उनके तर्कों का आधार प्राकृतिक विज्ञान है कि समाजशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञान की तरह प्रयोग नहीं किये जा सकते और न ही अटल भविष्यवाणी की जा सकती है। लेकिन जो विद्वान समाजशास्त्र को एक विज्ञान मानते हैं, उनका तर्क यह है कि समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति अपनाई जाती है। इसलिए यह एक विज्ञान है। इस विवाद के आध र पर यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र उतना निश्चित विज्ञान नहीं है; जितने निश्चित विज्ञान प्राकृतिक या भौतिक विज्ञान है, लेकिन यह एक विज्ञान है और इसकी प्रकृति वैज्ञानिक हैं। रॉबर्ट बीरस्टीड ने समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति को निम्न प्रकार स्पष्ट किया है-

(1) **समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है न कि प्राकृतिक विज्ञान-**चूँकि समाजशास्त्र मूलतः सामाजिक घटनाओं, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक प्रक्रियाओं व समस्याओं का अध्ययन करता है, इसलिए यह एक सामाजिक विज्ञान है। यह प्राकृतिक घटनाओं का अध्ययन नहीं करता है।

(2) **समाजशास्त्र एक निरपेक्ष या वास्तविक विज्ञान है न कि आदर्शात्मक-**समाजशास्त्र में पक्षपात रहित होकर सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। यह क्या है, का अध्ययन करता है तथा क्या होना चाहिए पर ध्यान नहीं देता। यह सामाजिक तथ्य जिस रूप में होते हैं, उन्हें उसी रूप में देखता है।

(3) **समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है, न कि व्यावहारिक विज्ञान-**समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है; इसलिए यह सामाजिक घटनाओं का अध्ययन, विश्लेषण एवं निरूपण कर ज्ञान का संग्रह करता है। यह औषधि विज्ञान की तरह सामाजिक रोगों एवं समस्याओं का निदान नहीं करता। गरीबी, बेरोजगारी, भिक्षावृत्ति जैसी समस्याओं को हल करना समाजशास्त्र का कार्य नहीं है। यह शास्त्र तो इनके सम्बन्ध में वैज्ञानिक जानकारी उपलब्ध कराता है।

(4) **समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है-**समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है, न कि मूर्त विज्ञान। यह सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है, जो कि अमूर्त हैं।

### सारांश

यद्यपि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति गतिशील है तथापि जब भौतिक और प्राकृतिक घटनाओं का उनमें

होने वाले परिवर्तनों के उपरान्त भी वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन किया जा सकता है तो फिर सामाजिक घटनाओं के क्षेत्र में ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह बात नहीं मानी जा सकती कि परिवर्तित होने वाली घटनाओं का अध्ययन करने वाला शास्त्र विज्ञान नहीं हो सकता।

### स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. **मैक्स वेबर के विचार**-वेबर के अनुसार, समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। दूसरे शब्दों में समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक व्यवहारों को समझना तथा उसकी व्याख्या करना है। वेबर के अनुसार सामाजिक व्यवहारों का तात्पर्य सभी सामाजिक सम्बन्धों से नहीं होता बल्कि सामाजिक व्यवहारों का निर्धारण केवल उन्हीं सम्बन्धों से होता है; जिन्हें सामाजिक क्रियाएँ कहा जाता है। सामाजिक क्रियाएँ वैसे व्यवहार हैं, जो अर्थपूर्ण होते हैं और दूसरे व्यक्ति के व्यवहारों से प्रभावित होते है। समाजशास्त्र में केवल इन्हीं सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। वेबर का विचार है कि सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन के द्वारा ही समाजशास्त्रीय नियमों को तार्किक और अनुभव सिद्ध बनाया जा सकता है। समाजशास्त्र यदि सभी तरह के सम्बन्धों का अध्ययन करने लगे तो इसके नियमों में तर्क और अनुभव का अभाव हो जायेगा। इस दृष्टिकोण से भी समाजशास्त्र एक विशेष सामाजिक विज्ञान है।

2. **सोरोकिन के विचार**-सोरोकिन का कथन है कि सभी सामाजिक विज्ञान किसी न किसी रूप में एक-दूसरे पर निर्भर हैं; इसलिए किसी भी सामाजिक विज्ञान को पूरी तरह से स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। इस आधार पर यह काम समाजशास्त्र का है कि वह विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों अथवा उनके सामान्य तत्त्वों का अध्ययन करे।

3. **हॉबहाउस के विचार**-हॉबहाउस ने भी समाजशास्त्र को समाज के एक सामान्य विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया है। आपका विचार है कि समाजशास्त्र का प्रमुख कार्य विभिन्न सामाजिक विज्ञानों से प्राप्त परिणामों में से सामान्य तत्त्वों को ढूँढना और उनका सामान्यीकरण करना है। यह कार्य समाजशास्त्र तीन प्रकार से कर सकता है

    (1) सभी सामाजिक विज्ञानों की प्रमुख धारणाओं का सामान्य स्वरूप स्पष्ट करके।

    (2) समाज को स्थायी रखने वाले और समाज को बदलने वाले कारकों का पता लगाकर।

    (3) सामाजिक विकास की प्रवृत्ति और दशाओं को ज्ञात करके।

यह कार्य समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान बनाकर नहीं बल्कि एक सामान्य सामाजिक विज्ञान बनाकर ही किया जा सकता है।

4. **समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है**-इंकल्स ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु में सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन को भी सम्मिलित किया है। समाज सामाजिक संस्थाओं की ही जटिल व्यवस्था है। संस्था समाज द्वारा मान्यता प्राप्त कार्यप्रणाली है। संस्था का क्षेत्र सम्पूर्ण समाज होता है तथा इसका दीर्घकालीन स्थायित्व होता है। संस्थाएँ समाज के सदस्यों के मौलिक हितों या स्वार्थों की पूर्ति करती हैं। संस्थाओं का समाज के सदस्यों पर व्यापक तथा शक्तिशाली नियन्त्रण होता है। परिवार, विवाह पाठशाला, धर्म (चर्च) राजनीतिक दल आदि अनेक सामाजिक संस्थाएँ समाजशास्त्र की विशिष्ट विषयवस्तु हैं अर्थात् समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन के अन्तर्गत सभी संस्थाओं की विशेषताएँ, उनके

विभिन्न पक्षों में भेद, संस्थाओं के आकार, विशेषीकरण की मात्रा तथा स्वायत्ता में समानताएँ, विभिन्न संस्थाओं के कार्य, उनके विकास आदि का अध्ययन करता है। दुर्खीम ने भी अपनी पुस्तक 'Rules of Sociological Method' में स्वीकार किया है कि समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है।

**अभ्यास प्रश्न**

1. समाजशास्त्र का अर्थ तथा परिभाषा दें एवं इसके अध्ययन के क्षेत्रों को वर्णन करें।
2. समाजशास्त्र की विषयवस्तु का विश्लेषण करे।।
3. समाजशास्त्र की प्रकृति की समीक्षा करें।

**bdkbZ&3 lekt'kkL=h; ifjç{;**

lekt'kkL=h; –f"Vdks.k lekt dks le>us dk ,d rjhdk gS tks lkekftd lajpukvksa] laLFkkvksa vkSj lkaL—frd ekunaMksa ds ijLij laca/kksa ij tksj nsrk gSA viu ey esa] lekt'kkL= ;g le>kus dk ç;kl djrk gS fd lekt dSls dke djrk gS vkSj ;g fty rjg ls dke djrk g] og D;ksa djrk gSA lekt'kkL=h; ylsd ek/;e ls lkekftd ?kVukvksa dk fo'ys"k.k djds] ge 'kfä xfr'khyrk] vlekurk vkSj lkaL—frd eY;ksa tSls eíksa e ub vr–f"V çkIr dj ldrs gSA

ge ;g irk yxk,xs fd lekt'kkL=h; –f"Vdks.k D;ksa gS vkSj lekt dks le>us ds fy, ;g D;ksa egRoiw.kZ gSA ge lkekftd lajpuk] laL—fr] laLFkk,] 'kfä vkSj vlekurk tSlh çeq[k vo/kkj.kkvksa dks ifjHkkf"kr djxsA blds vfrfjä] ge okLrfod thou ds mnkgj.kks çnku djx fd lekt'kkL=h; –f"Vdks.k dks 0;ogkj esa dSls ykxw fd;k tk ldrk gSA vr esa] ge lekt'kkL= dh vke vkykspukvksa dks lcksf/kr djx vkSj blls ppk ls e[; ckrks ds lkjka'k ds lkFk fu"d"k fudkyxA

lekt'kkL= ekuo lekt vkSj lkekftd 0;ogkj dk oKkfud v/;;u gSA ;g le>us dk ç;kl djrk g fd 0;fä ,d&nlj ds lkFk dSls ckrphr djr g] lkFk gh ;g Hkh fd leg vkSj lekt dSls ljfpr vkSj dk;l djr gSA

lekt'kkL=h; –f"Vdks.k lekt dks le>us dk ,d rjhdk g tks lkekftd lajpukvksa] laLFkkvksa vkSj lkaL—frd ekunaMksa dh ijLij lac)rk ij tksj nsrk gSA lekt dks le>u ds vU; rjhdksa] tSls eukfoKku ;k vFk'kkL= ds foijhr] lekt'kkL= ,d lex –f"Vdks.k viukrk g tks lkekftd ?kVukvksa dk fo'ys"k.k djr le; dbZ dkjdksa ij fopkj djrk gSA
lekt'kkL=h; ifjç{; dh e[; vo/kkj.kk,] & lkekftd ljpuk] 'kfä vkSj laL—fr lekt'kkfL=;ksa }kjk fofHkUu çdkj ds ylks ds ek/;e ls lekt dks fo'ys"k.k djus ds fy, mi;kx dh tkus okyh çeq[k vo/kkj.kk, gSA mnkgj.k ds fy,] o tkp dj ldrs g fd tkfr ;k fyx tSlh lkekftd ljpuk, f'k{kk ;k LokLF; lok tSlh laLFkkvksa e 0;fä;ksa ds vuHkoksa dks dSls çHkkfor djrh gSA odfYid :i ls] o ;g le>u ds fy, lkL—frd ekunaMksa vkSj çFkkvksa dk v/;;u dj ldrs g fd o 0;ogkj vkSj –f"Vdks.k dks dSl vkdkj nrs gSA
bu vo/kkj.kkvksa ij ,d lkFk fopkj djds] lekt'kkL=h bl ckr dh xgjh le> gkfly dj ldrs g fd lekt ds fofHkUu igyw vkil e dSls tMs g, g vkSj o vlekurk ;k 'kfä xfr'khyrk ds cM iVu e dSls ;kxnku djrs gSA bl fo'ys"k.k ds ek/;e ls] lekt'kkL=h ifjoru ds lHkkfor {ks=ksa dh igpku dj ldrs g vkSj vf/kd U;k;lxr lekt cuku dh fn'kk e dke dj ldrs gSA
lkekftd ljpuk& lkekftd ljpuk lekt'kkL= e ,d dæh; vo/kkj.kk g tks lekt dks vkdkj nus okys fj'rks vkSj lkekftd 0;oLFkkvksa ds iVu dk lnfHkr djrh gSA ; ljpuk, dbZ :i y ldrh g] ftue ljdkj ;k Ldwy tSlh vkipkfjd laLFkk,] lkFk gh vukipkfjd lkekftd ekunaM vkSj vi{kk, 'kkfey gSA lkekftd ljpuk dk ,d egRoiw.kZ igyw lkekftd inkuØe g] tks /ku] fLFkfr ;k 'kfä tSls dkjdksa ds vk/kkj ij lekt ds Hkhrj 0;fä;ksa ;k legks dh jfdx dks lnfHkr djrk gSA

## परिचय

मनुष्य के चारों ओर समय-समय पर अनेक घटनाएँ घटित होती रहती हैं। इन घटनाओं से प्रभावित होकर उसने इनका अध्ययन प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप कई विज्ञानों का विकास किया गया; जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की घटनाओं का अध्ययन किया जाने लगा। साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि विभिन्न विषयों से सम्बन्धित विज्ञान एक ही घटना या समान घटनाओं का अध्ययन भी करते हैं। प्रश्न यह उठा कि जब समान या एक ही घटना, तथ्य, आँकड़ों एवं सामाजिक वास्तविकताओं का अध्ययन अलग-अलग विज्ञान करते हैं तो ऐसी कौन-सी विशेषताएँ हैं जो विभिन्न विज्ञानों की पृथकता को बनाए रखने में योगदान देती हैं। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि प्रत्येक विज्ञान का घटनाओं एवं तथ्यों को देखने-समझने का अपना एक नजरिया होता है, एक दृष्टिकोण होता है, एक सन्दर्भ परिधि होती है, उसे ही उस विज्ञान का परिप्रेक्ष्य (Perspective) कहा जाता है। उदाहरण के रूप में, अपराधी-व्यवहार का अध्ययन; समाजशास्त्री सामाजिक दृष्टिकोण (नजरिया) से, अर्थशास्त्री आर्थिक दृष्टिकोण से, राजनीतिशास्त्री राजनीतिक दृष्टिकोण से, तो मनोवैज्ञानिक मानसिक दृष्टिकोण से या मानसिक कारकों के सन्दर्भ में करने का प्रयत्न करते हैं। स्पष्ट है कि एक ही घटना या तथ्य को विभिन्न विज्ञान पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण, नजरिए या परिप्रेक्ष्य से देखते एवं अध्ययन करते हैं। इन विज्ञानों का परिप्रेक्ष्य एवं सन्दर्भ-परिधि (Frame of Reference) अलग-अलग होते हैं? जो उन्हें विशिष्टता या भिन्नता प्रदान करते हैं। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को सविस्तार समझने के पूर्व यहाँ परिप्रेक्ष्य का अर्थ जान लेना आवश्यक है।

## परिप्रेक्ष्य का अर्थ (MEANING OF PERSPECTIVE)

'पर्सपेक्टिव' (Perspective) जो अँग्रेजी का शब्द है, का अर्थ' परिप्रेक्ष्य' है। पर्सपेक्टिव (परिप्रेक्ष्य) लैटिन भाषा के 'पर्सपैक्ट' (Perspect) से बना है; जिसका अर्थ 'सीन थ्रू' (Seen Through) यानि ऊपर से नीचे तक देखना है। अन्य शब्दों से परिप्रेक्ष्य का अर्थ एक सिरे से दूसरे सिरे तक देखना या निरीक्षण करना है। सामाजिक विज्ञानों में इसका अर्थ प्रारम्भ से अन्त तक परीक्षण या अन्वेषण करना है। जब कोई वैज्ञानिक अपने विषय के विशिष्ट उद्देश्य का ध्यान में रखते हुए किसी तथ्य, घटना या सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन विशेष नजरिए या दृष्टिकोण से करता है तो वह उस विषय का परिप्रेक्ष्य कहलाता है। सभी विषयों का घटना के अध्ययन का अपना विशेष ढंग, तरीका या दृष्टिकोण होता है। इस ढंग, तरीका या दृष्टिकोण को परिप्रेक्ष्य के नाम से पुकारते हैं। परिप्रेक्ष्य का तात्पर्य अध्ययन के क्रमबद्ध, व्यवस्थित एवं विशिष्ट दृष्टिकोण से है, जो एक विषय को अन्य विषयों से विशिष्ट बनाता है। किसी भी घटना या तथ्य के अध्ययन के अनेक आयाम या पहलू होते हैं; अतः उसके व्यवस्थित विश्लेषण के लिए उसे निश्चित सीमा या परिधि में बाँधना आवश्यक है। इस हेतु एक घटना के भिन्न-भिन्न सन्दर्भों को अलग-अलग किया जाता है एवं एक सन्दर्भ अथवा अध्ययन का दृष्टिकोण एक विज्ञान या विषय के अन्तर्गत आता है। इससे उसके अध्ययन की सीमा निर्धारित हो जाती है। इसे ही परिप्रेक्ष्य (Perspectie) या सन्दर्भ परिधि (Frame of Reference) नाम दिया गया है। यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि किसी भी विषय को समझने के लिए उसके परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण एवं सन्दर्भ-परिधि को समझ लेना जरूरी है।

## समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का अर्थ (MEANING OF SOCIOLOGICAL PERSPECTIVE)

कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण को इस प्रकार परिभाषित किया है; **थियोडोरसन** ने बताया है कि "मूल्य, विश्वास, अभिवृत्ति एवं अर्थ व्यक्ति को संदर्भ एवं दृष्टिकोण उपलब्ध कराते हैं

जिनके अनुसार वह परिस्थिति का निरीक्षण या अवलोकन करता है, परिप्रेक्ष्य कहलाता है।" थियोडोरसन एवं थियोडोरसन के अनुसार परिप्रेक्ष्य एवं संदर्भ परिधि एक-दूसरे से निकट रूप से सम्बन्धित है और परिप्रेक्ष्य को ठीक से समझने के लिए सन्दर्भ-परिधि को जान लेना भी आवश्यक है। आपने लिखा है; "किसी बिन्दु के दृष्टिकोण, मानदण्ड या अवधारणाओं की व्यवस्था को लेकर कोई व्यक्ति या समूह अपने अनुभव, ज्ञान तथा व्याख्याओं को संगठित करता है, उसे ही संदर्भ-परिधि कहा जाता है।" व्यक्ति के मूल्य तथा सामाजिक प्रतिमान (जनरीतियों, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, संस्थाएँ) सामाजिक परिस्थिति में उसके अवलोकनों एवं निर्णयों को प्रभावित करते हैं, इन्हें ही सन्दर्भ-परिधि कहते हैं।

**जी. ए. लुण्डबर्ग** ने बताया कि हमारी स्थापित आदतों की व्यवस्था ही सन्दर्भ परिधि के निर्माण में योगदान देती है। आदतों की व्यवस्थाओं को स्पष्ट करते हुए आपने बताया है कि ये लोक-भाषा में होती हैं तथा इन्हें विश्वास, सिद्धान्त या जीवन-दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। स्पष्ट है कि परिप्रेक्ष्य या सन्दर्भ-परिधि मानव द्वारा अपने अध्ययन के उद्देश्यों, सीमाओं एवं सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए निर्मित किया गया दृष्टिकोण है।

**इलोम चिनोय** का मानना है कि किसी भी विषय का परिप्रेक्ष्य उसमें प्रयुक्त होने वाली अवधारणाओं से ज्ञात किया जा सकता है। आपका कहना है कि किसी भी विषय या विज्ञान को समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि उसमें किन-किन मौलिक अवधारणाओं का प्रयोग किया जाता है। यदि हम इन अवधारणाओं को समझ लेते हैं तो उस विज्ञान की प्रकृति एवं परिप्रेक्ष्य को जान लेना हमारे लिए आसान हो जायेगा।

**गुड एवं हॉट** का मानना है कि किसी भी घटना, स्थिति या वस्तु का अलग-अलग प्रकार से अध्ययन किया जा सकता है। आपने बताया है कि किसी भी विषय या विज्ञान की परिभाषा, अध्ययन का क्षेत्र, इसकी प्रकृति, सिद्धान्त, अवधारणाएँ, आदि उसके परिप्रेक्ष्य को तय करती है। प्रत्येक विज्ञान में घटना के सभी पक्षों पर ध्यान केन्द्रित नहीं करके केवल एक पक्ष पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। सभी वैज्ञानिक अपने-अपने विषय के विशिष्ट परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए किसी एक ही घटना या तथ्य का अध्ययन करते हैं और ज्ञान की वृद्धि में योग देते हैं।

**समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को प्रमुखतः दो भागों में बाँटा गया है :** प्रथम भाग में समाजशास्त्री समाज, समूह, सामाजिक अन्तः क्रियाओं, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संरचना, सामाजिक व्यवस्था और इनमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करते हैं। वे यह पता लगाने का प्रयास करते हैं कि इन परिवर्तनों से सामाजिक व्यवस्था, सहयोग, एकीकरण, संगठन, आदि घटते हैं या बढ़ते हैं। वे इस दृष्टि से भी अध्ययन करते हैं कि इनसे कहीं अव्यवस्था, विघटन, असंतोष, तनाव, संघर्ष आदि तो नही बढ़ रहे हैं।

द्वितीय भाग के अन्तर्गत समाजशास्त्री सामाजिक प्रघटनाओं के अलावा अन्य सभी घटनाओं, तथ्यों या वस्तुओं का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करते हैं। वे यह पता लगाने का प्रयत्न करते हैं कि ये अन्य घटनाएँ, तथ्य या वस्तुएँ मानव समाज, समूह, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संगठन तथा सामाजिक व्यवहार को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। अध्ययन के इस पक्ष पर अनेक समाजशास्त्री विशेषतः इलोय चिनोय, लुण्डवर्ग, गुडे एवं हॉट, आदि ने जोर दिया है।

अब हम यहाँ समाजशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले सामाजिक विज्ञानों; जैसे-राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान और मानवशास्त्र के दृष्टिकोण या परिप्रेक्ष्य को समझने का प्रयत्न करेंगे और साथ ही

यह जानने का प्रयास करेंगे कि वे समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से किस प्रकार भिन्नता रखते हैं।

**राजनीतिशास्त्र** की मुख्य रूचि सत्ता के अध्ययन में है। इस शास्त्र के द्वारा राज्य तथा राजकीय प्रशासन के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है। राजनीतिशास्त्र संगठित मानव सम्बन्धों का अध्ययन करता है और ये सामाजिक सम्बन्धों का ही एक अंग है। राजनीतिशास्त्र वस्तु या घटना का अध्ययन इस दृष्टिकोण से करेगा कि उसका शक्ति-सम्बन्धों, सरकार एवं विभिन्न राजनीतिक दलों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। जहाँ राजनीतिशास्त्री शक्ति-सम्बन्धों और सरकार को अपने अध्ययन के लिए विशेषतः चुनता है, वहाँ समाजशास्त्री राजनीतिक मामलों के बारे में सामान्य अभिवृत्तियों और मूल्यों में, राजनीतिक आन्दोलनों एवं ऐच्छिक संगठनों की सदस्यता तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया आदि में। समाजशास्त्र में सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र सरकार सहित विभिन्न संस्थाओं के अन्तर्सम्बन्धों के अध्ययन पर जोर देता है जबकि राजनीतिशास्त्र सरकार के अन्तर्गत चलने वाली प्रक्रिया के अध्ययन से सम्बन्धित है। कई ऐसे विषय हैं; जिनका राजनीतिशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों दोनों ने अध्ययन किया है, किन्तु उनके परिप्रेक्ष्य में भिन्नता रही है।

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं या व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र को वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं वितरण का अध्ययन भी कहा जाता है। इस शास्त्र के द्वारा व्यक्ति के धान के उत्पादन व वितरण और उपभोग से सम्बन्धित व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। धन से सम्बन्धित मानवीय क्रियाओं या गतिवधियों को प्रमुखता देने का कारण यह है कि धन आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति का प्रमुख साधन है। अर्थशास्त्री किसी वस्तु का अध्ययन आर्थिक दृष्टिकोण से करेगा, वह यह पता लगाने की कोशिश करेगा कि वह वस्तु कितने में खरीदी और कितने में बेची गई तथा उससे बेचने वालें को क्या लाभ या हानि हुई। अर्थशास्त्रियों की आर्थिक घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने की क्षमता अपूर्ण होती है और इसका कारण यह है कि वे व्यक्तिगत प्रेरणाओं या प्रयोजनों तथा संस्थात्मक बाधाओं जैसे कारकों को आवश्यक महत्त्व नही दे पाते हैं। समाजशास्त्री अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर इनका अध्ययन करने में विशेषतः सक्षम हैं। समाजशास्त्री यह भी देखते हैं कि वस्तुओं की माँग, पूर्ति और कीमत पर प्रतिष्ठा, परम्परा और मूल्यों का क्या प्रभाव पड़ता है, उत्पादन और प्रोत्साहन का क्या सम्बन्ध है, आदि।

**इतिहास** घटनाओं के क्रम को बताता है, भूतकाल की विशिष्ट घटनाओं का वर्णन करता है, उन घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्धों की विवेचना करता है। दूसरे शब्दों में, इतिहास उस समय-क्रम का पता लगाने का प्रयत्न करता है; जिसमें विभिन्न घटनाएँ घटित हुई। व्यवहार का समय क्रमानुसार व्यवस्थित अध्ययन ही इतिहास है। **इतिहासकार** उस क्रम का पता लगाने का प्रयत्न करता है जिसमें विभिन्न घटनाएँ घटित हुई। दूसरी ओर, समाजशास्त्री एक ही समय में घटित होने वाली घटनाओं के मध्य पाए जाने वाले सम्बन्ध को प्रकट करने में रूचि लेता है। जहाँ इतिहासकार अपने को भूतकाल के अध्ययन तक सीमित रखते हैं, वहाँ समाजशास्त्री समकालीन घटनाओं के अध्ययन को महत्त्व देते हैं। इतिहासकार विभिन्न कालों के संस्थात्मक स्वरूपों; जैसे-भूस्वामित्व या परिवार में स्त्री-पुरुषों के सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों में रुचि नहीं रखते। इस प्रकार के संस्थात्मक स्वरूपों में होने वाले परिवर्तनों और सम्बन्धों पर समाजशास्त्री अपना ध्यान विशेषतः केन्द्रित करते हैं।

**मनोविज्ञान** को मस्तिष्क या मानसिक क्रियाओं का विज्ञान माना गया है। जिस प्रकार से समाजशास्त्र का केन्द्रीय विषय समाज और सामाजिक व्यवस्था है, उसी प्रकार से मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय व्यक्तित्व (Personality) है। मनोविज्ञान की रुचि व्यक्ति में है, न कि उसकी सामाजिक परिस्थिति में।

मनोविज्ञान में संवेगो, प्रेरकों, चालकों, प्रत्यक्ष बोध (Perception), सीखना, आदि का अध्ययन किया जाता है, जो व्यक्ति को एक निश्चित प्रकार से व्यवहार करने को प्रेरित करते हैं। ये मानसिक प्रक्रियाएँ ही व्यक्तित्व व्यवस्था का निर्माण करती है। मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के अध्ययन पर विशेष जोर देते है और समाजशास्त्री समाज और सामाजिक व्यवस्था (Social System) के अध्ययन पर। समाजशास्त्र यह जानने का विशेषतः प्रयत्न करता है कि एक समाज में लोग किस प्रकार व्यवहार करते हैं। वह व्यवहार उन लोगों की संस्कृति, उनके सामाजिक संगठन और उनकी परिस्थिति, आदि कारकों से कितना प्रभावित होता है तथा साथ ही उस समाज में उस व्यवहार को किस रूप में संगठित किया जाता है। जनमत, भीड़-व्यवहार; जैसे-दंगे, राजनीति या धर्म के क्षेत्र में जन-आन्दोलन आदि के अध्ययन में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के बीच का अन्तर समाप्त हो जाता है।

मानवशास्त्र विश्व के किसी भी भाग में निवास करने वाले आदिम मानव के जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन करता है। जब हम मानवशास्त्र पर संस्कृति के विज्ञान के रूप में विचार करते हैं तो उस समय मानवशास्त्र और समाजशास्त्र एक-दूसरे के काफी निकट आ सकते हैं। जहाँ मानवशास्त्र आदिम मानव का अध्ययन करता है, वहाँ समाजशास्त्र अधिक उन्नत सभ्यताओं का। मानवशास्त्री समाजों का अध्ययन उनके समग्र रूप में उनके विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखते हुए करते हैं, परन्तु समाजशास्त्री किसी समाज के भागों का अध्ययन करते हैं। वे साधारणतः कुछ संस्थाओं जैसे परिवार या किसी प्रक्रिया जैसे सामाजिक गतिशीलता आदि का अध्ययन करते हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विभिन्न विज्ञानों का अपना-अपना परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण और अध्ययन का क्षेत्र एवं विषय-वस्तु है। समाजशास्त्र का भी अपना परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण और अध्ययन क्षेत्र है। अब हम यहाँ उसी पर चर्चा करेंगे।

## समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (SOCIOLOGICAL PERSPECTIVE)

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत समाजशास्त्री सामाजिक क्रियाओं, सामाजिक समूहों, सामाजिक सम्बन्ध, समूहों, संस्थाओं, व्यवहारों, सामाजिक व्यवस्था, अव्यवस्था, परिवर्तन आदि सभी के अध्ययन को सम्मिलित करते हैं। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है, उन्हें कार्य-कारण के सन्दर्भ में देखा जाता है। इस प्रकार से समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की प्रकृति वैज्ञानिक है। समाजशास्त्री किसी भी ऐसी संस्था को अपने अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित कर लेते हैं जो किसी अन्य विषय के अध्ययन क्षेत्र में नहीं आती हो। यदि कोई विषयवस्तु या संस्था महत्वपूर्ण है तथा उसका अध्ययन किसी अन्य शास्त्र के अन्तर्गत नहीं किया जाता है तो समाजशास्त्र उसके अध्ययन का दायित्व अपने पर ले लेता है। समाजशास्त्र द्वारा नए-नए विषयों या क्षेत्रों को अपने अध्ययन में सम्मिलित करने का मुख्य कारण यह है कि समाजशास्त्री सामाजिक क्रिया की व्यवस्थाओं और उनके अन्तः सम्बन्धों (Systems of Social Actions and their inter-relations) के अध्ययन से सामान्यतः सम्बन्धित होता है। इसी के फलस्वरूप वह मानव के सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं के अध्ययन में रुचि रखता है; चाहे उनका अध्ययन किसी शास्त्र विशेष के अन्तर्गत आता हो या नहीं आता हो।

समाजशास्त्र अन्य सभी वैज्ञानिक दृष्टिकोणों या परिप्रेक्ष्य के समान इस मान्यता को लेकर चलता है कि प्रकृति में सभी जगह व्यवस्था **(Order)** है; जिसका पता लगाया, वर्णन किया और जिसको समझा जा सकता है। इसी प्रकार समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन में व्याप्त व्यवस्था को खोजने तथा वर्णन और व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। इंकल्स ने लिखा है कि समाज में व्यक्ति सैकड़ों-हजारों प्रकार की क्रियाएँ प्रतिदिन करते हैं, लेकिन उनसे कोई व्यवस्था उत्पन्न नहीं होती, बल्कि उन क्रियाओं में एक

व्यवस्था पाई जाती है। इस व्यवस्था का ही परिणाम है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्रियाएँ इस प्रकार करता है कि दूसरों के क्रियाएँ करने और लक्ष्यों को प्राप्त करने में बाधा उपस्थित नहीं होती है, यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के उद्देश्यों की पूर्ति को सरल बनाता है। समाजशास्त्र का मुख्य ध्यान यह स्पष्ट करने पर रहता है कि ऐसा क्यों होता है, विभिन्न व्यक्तियों की अगणित व्यक्तिगत क्रियाओं में समन्वय से सामाजिक जीवन का प्रवाह कैसे चलता रहता है?

समाजों में समय-समय पर **अव्यवस्था** (Disorder) भी देखने को मिलती है। प्रत्येक समाज के जीवन में कोई न कोई ऐसा समय आता है जब वहाँ लड़ाई-झगड़े, दंगे, गृह-युद्ध, हिंसा, अपराध आदि की घटनाएँ काफी बढ़ गयी। ये घटनाएँ सामाजिक जीवन में व्यवस्था के बजाय अव्यवस्था की स्थिति को व्यक्त करती है। व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही प्रकार के जीवन में कुछ ऐसी शक्तियाँ कार्य करती रहती हैं जो व्यवस्था बनाये रखने और उसको स्थायित्व प्रदान करने में योगदान देती हैं साथ ही कुछ ऐसी शक्तियाँ भी मौजूद रहती है जो अव्यवस्था, संघर्ष या विघटन में योगदान देती है। इनमें मौलिक दशा के रूप में व्यवस्था को माना गया है। बिना किसी न किसी प्रकार की व्यवस्था के मनुष्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। समाजशास्त्र समाजिक जीवन में व्याप्त व्यवस्था के साथ-साथ अव्यवस्था का अध्ययन भी करता है। समाजशास्त्र में व्यवस्था, अव्यवस्था तथा व्यवस्थित और अव्यवस्थित परिवर्तन का अध्ययन सम्मिलित है। **समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओं (Social Systems) में होने वाले परिवर्तनों का वर्णन और विश्लेषण भी करता है।** साथ ही यह उन मौलिक प्रक्रियाओं को भी स्पष्ट करता है; जिनसे एक सामाजिक व्यवस्था एक स्थिति से दूसरी से, संगठन की स्थिति में पहुँचती है। किंग्सले डेविस ने बताया कि मौलिक रूप में समाजशास्त्र की रुचि समाजों की व्यवस्थाओं (Systems) के रूप में और बिना प्रकारों पर ध्यान दिये सामाजिक सम्बन्धों में है। **समाजशास्त्र अपना ध्यान उस तरीके पर केन्द्रित रखता है जिससे समाज अपनी एकता और निरन्तरता प्राप्त करते हैं तथा साथ ही उस तरीके पर भी जिससे वे बदलते हैं।**

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को समझाने की दृष्टि से अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जैसे फुटबाल का अध्ययन। इसका अध्ययन अलग-अलग विज्ञानवेता अपने-अपने विज्ञान के दृष्टिकोण से करेंगे। भौतिकशास्त्री, प्राणिशास्त्री, वनस्पतिशास्त्री, अर्थशास्त्री, आदि का दृष्टिकोण एक-दूसरे से भिन्न होगा। समाजशास्त्र खेल के मैदान में सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से, प्राथमिक समूह, सहयोग, संघर्ष, प्रतिस्पध f के दृष्टिकोण से, विभिन्न खिलाड़ियों की प्रस्थिति और भूमिका के रूप में और समग्र रूप में अलग-अलग खिलाड़ियों की क्रियाओं के आधार पर पाई जाने वाली व्यवस्था के रूप में फुटबाल पर विचार करेगा; यही समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है। यह एक विशेष दृष्टिकोण है जो अन्य विज्ञानों के दृष्टिकोण से भिन्न है। समाजशास्त्री इसी दृष्टिकोण को लेकर विभिन्न वस्तुओं या घटनाओं का अध्ययन करता है। यही कारण है कि आज कला का समाजशास्त्र, संगीत का समाजशास्त्र, ज्ञान का समाजशास्त्र, परिवार का समाजशास्त्र, आदि पाए जाते हैं। समाजशास्त्री विशेष दृष्टिकोण से सामाजिक प्रघटना को देखता और उसका अध्ययन तथा विश्लेषण करता है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में एक ओर ध्यान सामाजिक सम्बन्ध पर केन्द्रित किया जाता है और दूसरी ओर यह देखने का प्रयास किया जाता है कि किसी वस्तु या प्रघटना का हमारे सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। यहाँ पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक समूहों, सामाजिक मूल्यों, सामाजिक प्रस्थिति और भूमिका, सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक नियंत्रण, समग्र रूप में समाज में व्याप्त व्यवस्था और अव्यवस्था तथा इनमें होने वाले परिवर्तनों को विभिन्न प्रघटनाएँ किस प्रकार से प्रभावित करती हैं; यही समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है।

अन्य सामाजिक विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ में उपर्युक्त विवेचन से समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य स्वतः ही स्पष्ट है। यह परिप्रेक्ष्य राजनीतिशास्त्री, अर्थशास्त्री इतिहासकार, मनोवैज्ञानिक, मानवशास्त्री आदि के परिप्रेक्ष्य से भिन्न है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को प्रमुखतः दो भागों में बाँटा जा सकता है:

### समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य-

(i) वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Scientific Perspective)

(ii) मानवतावादी परिप्रेक्ष्य (Humanistic Perspective)

समाजशास्त्र के सन्दर्भ में जब हम परिप्रेक्ष्य (Perspective) की बात करते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि इसके अध्ययन में विश्लेषण की इकाई को एक विशेष दृष्टि से देखा जाए। किसी भी घटना के अस्तित्व एवं गतिविधि से सम्बन्धित कई आयाम हो सकते हैं। घटना का अवलोकन करने वाला अध्ययनकर्ता इनमें से किसी विशिष्ट आयाम पर ध्यान केन्द्रित करता है और शेष को नजरअन्दाज कर देता है। उसकी यह प्रवृत्ति ही उसके परिप्रेक्ष्य को बतलाती है। समाजशास्त्र में विश्लेषण की इकाइयाँ, समाज एवं उसके व्यवहार के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। इनके विश्लेषण के लिए अध्ययन की इकाई के चारो ओर कई परिप्रेक्ष्यों का विकास होता है। अध्ययनकर्ता किसी विशेष परिप्रेक्ष्य को अपनाते हुए समाज, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक व्यवहारों तथा सामाजिक प्रघटनाओं को समझने का प्रयास करता है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का विस्तृत उल्लेख अध्याय-5 'समाजशास्त्रीय अध्ययन' का वैज्ञानिक मानविकी अभिमुखन में किया गया है।

### समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध (RELATION OF SOCIOLOGY WITH OTHER SOCIAL SCIENCES)

विज्ञानों को प्रमुखतः दो श्रेणियों में बाँटा गया है-(1) प्राकृतिक विज्ञान (Natural Sciences) तथा (II) सामाजिक विज्ञान (Social Sciences)। प्राकृतिक विज्ञानों में भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, आदि आते हैं; जबकि सामाजिक विज्ञानों में अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र आदि। प्राकृतिक विज्ञानों के अन्तर्गत भौतिक जगत या उससे सम्बन्धि त घटनाओं का अध्ययन किया जाता है; जबकि सामाजिक विज्ञानों में मानवीय क्रियाओं, समाज और सामाजिक घटनाओं का। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में से प्रत्येक के द्वारा समाज जीवन के किसी न किसी पहलू का अध्ययन किए जाने के कारण उन सभी के पास्परिक सम्बन्ध का होना स्वाभाविक ही है। जहाँ तक समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है; यह कहा जा सकता है कि इन सभी में पास्परिक आदान-प्रदान का सम्बन्ध है। समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों से और अन्य सामाजिक विज्ञान समाजशास्त्र से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने के बावजूद समाजशास्त्र का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। समाज-जीवन से सम्बन्धित बहुत सी ऐसी बातें या विषय है; जैसे-समाज की संरचना, संस्थाएँ, सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक परिवर्तन, हित, पृथकता, प्रतिस्पर्धा, सामाजिक अन्तःक्रिया, संघर्ष, प्रगति, समूह, सम्पर्क, भीड़, अपराध, आदि जिनका अध्ययन केवल समाजशास्त्र ही करता है।

प्रत्येक सामाजिक विज्ञान समाज के एक विशिष्ट पहलू का अध्ययन करता है; सम्पूर्ण समाज का नहीं, लेकिन समाज को पूर्णतः पृथक्-पृथक् भागों में नही बाँटा जा सकता, उसे तो समग्रता या सम्पूर्णता में

ही समझा जा सकता है और यह कार्य समाजशास्त्र करता है। इतना हमें अवश्य मानना पड़ेगा कि प्रत्येक सामाजिक विज्ञान समाज और मानवीय क्रियाओं का एक विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन करता है, प्रत्येक का अपना एक विशिष्ट ध्यानबिन्दु होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की अपनी-अपनी विशिष्ट विषय-वस्तु या अध्ययन सामग्री है और प्रत्येक ने अपनी विशेष अध्ययन पद्धतियाँ भी विकसित की हैं। यहाँ हमें यह भी ध्यान में रखना है कि सामाजिक जीवन के विशेष पहलू का अध्ययन करने वाले प्रत्येक सामाजिक विज्ञान को विशेष सामाजिक विज्ञान और सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करने वाले समाज-विज्ञान (समाजशास्त्र) को सामान्य सामाजिक विज्ञान कहा गया है।

समाजशास्त्र के अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्धों को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद पाया जाता कुछ विद्वान केवल समाजशास्त्र को ही समाज का एकमात्र विज्ञान मानते हैं, कुछ समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों के समन्वय का परिणाम मानते हैं, जबकि कुछ इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों के समान एक पृथक विज्ञान के रूप में महत्ता प्रदान करते हैं।

यहाँ समाजशास्त्र के अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्धों के बारे में कुछ प्रमुख विद्वानों के विचारों पर ध्यान देना उपयुक्त होगा-

(1) **ऑगस्ट कॉम्ट के विचार**-फ्रेंच विद्वान ऑगस्ट कॉम्ट ने समाजशास्त्र के अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार किया है। आपने अन्य सामाजिक विज्ञानों के अस्तित्व को ही नहीं माना है। आपका कहना है कि समाज एक समग्रता है और इस कारण सामाजिक प्रघटनाओं को अलग-अलग भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता है। अतः एक ही विज्ञान के द्वारा उसका पूर्णता में अध्ययन किया जाना चाहिए। इस कार्य को अकेला समाजशास्त्र ही कर सकता है। कोई भी अन्य अन्य सामाजिक विज्ञान समाज के किसी एक विशेष पहलू का अध्ययन करके समाज के सम्बन्ध में किसी वास्तविक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता। केवल समाजशास्त्र ही समाज का समग्र रूप में वैज्ञानिक अध्ययन करके सामाजिक जीवन और विभिन्न सामाजिक प्रघटनाओं के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी करा सकता है।

(2) **स्पेन्सर के विचार**-ब्रिटिश समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र विज्ञान नहीं मानकर विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का समन्वय मानते हैं। आपने समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने वाले सभी सामाजिक विज्ञानों; जैसे-अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास आदि के अस्तित्व और महत्त्व को स्वीकार किया है। आपके अनुसार विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के परिणामों (निष्कर्षों) को समाजशास्त्र ही समाज के एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में समन्वित करता है।

(3) **वार्ड के विचार**-अमेरिकन समाजशास्त्री वार्ड समाजशास्त्र को एकमात्र सामाजिक विज्ञान नहीं मानते (कॉम्ट की भाँति) और न ही वह इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों का समन्वय मात्र समझते हैं (स्पेन्सर की भांति)। आप समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों के समान एक स्वतन्त्र विज्ञान मानते हैं, इसे समानता का दर्जा प्रदान करते हैं। वार्ड की मान्यता है कि समाजशास्त्र विशेष सामाजिक विज्ञानों का समन्वय नही है बल्कि उनसे मिलकर बना एक मिश्रण है। यह ठीक उसी प्रकार का एक मिश्रण है; जिस प्रकार से कई रासायनिक पदार्थ मिलकर एक नए रसायन (मिश्रण) का निर्माण करते हैं। विभिन्न सामाजिक विज्ञान समाजशास्त्र की निर्णायक इकाइयाँ हैं।

(4) **गिडिंग्स के विचार**-अमेरिकन समाजशास्त्री गिडिंग्स ने समाजशास्त्र को समाज का समग्र रूप में या सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करने वाला विज्ञान माना है। आपने समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को काफी विशाल एवं विस्तृत माना है। आपके अनुसार समाजशास्त्र न तो अन्य सामाजिक विज्ञानों का योग है और न ही समन्वय। इसका तो अपना एक पृथक् दृष्टिकोण है; अलग विषय-सामग्री एवं अध्ययन क्षेत्र है।

(5) **सोरोकिन के विचार**-समाजशास्त्री सोरोकिन ने समाजशास्त्र को विशेष या स्वतन्त्र विज्ञान नहीं मानकर एक सामान्य विज्ञान माना है। आपके अनुसार-समाजशास्त्र सामाजिक जीवन की सामान्य घटनाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसके द्वारा सामाजिक सिद्धान्तों को प्रतिपादन किया जाता है। अध्ययन-सामग्री की दृष्टि से समाजशास्त्र अन्य विज्ञानों से सहायता प्राप्त करता है। साथ ही यह शास्त्र विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने और उन्हें पूर्णता प्रदान करने में योगदान देता है। आपकी मान्यता है कि समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। ये एक-दूसरे से काफी कुछ लेते-देते हैं; अतः ये परस्पर निर्भर हैं।

विद्वानों के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहाँ हमें **बार्न्स** एवं **बेकर** के इस कथन को ध्यान में रखना है-**"समाजशास्त्र न तो अन्य सामाजिक विज्ञानों की गृहस्वामिनी है और न ही उसकी दासी, बल्कि केवल उनकी बहन है।"**

## समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध

समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्ध की विवेचना हम निम्न प्रकार से कर सकते है:

## समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र (SOCIOLOGY AND ECONOMICS)

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं या आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र को वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं वितरण का अध्ययन भी कहा गया है। इस शास्त्र के द्वारा धन के उत्पादन एवं वितरण और उपभोग से सम्बन्धित व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। धन से सम्बन्धित मानवीय क्रियाओं या गतिविधियों को अर्थशास्त्र में प्रमुखता देने का कारण यह है कि धन आवश्यकताओं या इच्छाओं की पूर्ति का प्रमुख साधन है। समाजशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य की सामाजिक क्रियाओं या गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है। यह शास्त्र प्रथा, परम्परा, रूढ़ि, संस्था, संस्कृति, सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न स्वरूपों, सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक संरचनाओं तथा विभिन्न प्रकार के समूहों में विशेष रूप से रूचि रखता है। समाजशास्त्र समग्र रूप में मानवीय व्यवहार एवं समाज को समझने का प्रयास करता है।

इन दोनों शास्त्रों के सम्बन्धो के बारे में **सिल्वरमैन** ने लिखा है कि सामान्य कार्यों या लक्ष्यों के लिए इसे (अर्थशास्त्र) समाजशास्त्र नामक पितृ विज्ञान (Parent Science) की, जो सभी सामाजिक सम्बन्ध के सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करता है; एक शाखा माना जा सकता है। **थॉमस** के अनुसार अर्थशास्त्र वास्तव में समाजशास्त्र के व्यापक विज्ञान की एक शाखा है। ये दोनों शास्त्र मानव और उसकी क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने अर्थशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा माना है, लेकिन वास्तविकता यह है कि ये दोनों अपने-अपने अध्ययन क्षेत्र और विषय-सामग्री की दृष्टि से स्वतंत्र विज्ञान हैं, किसी को भी किसी से कम या ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। ये दोनों सामाजिक विज्ञान

घनिष्ठ रूप से एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। यही कारण है कि विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों का एक ही विभाग हुआ करता था। इसके अलावा बहुत से विद्वान अर्थशास्त्री होने के साथ-साथ समाजशास्त्री भी हुए हैं। कॉम्ट, जे. एस. मिल, पैरेटो, वेबलिन, कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, महात्मा गाँधी आदि विद्वानों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से यह स्पष्टतः सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं, इनका पृथक् पृथक् रूप में अध्ययन नहीं किया जा सकता। व्यक्ति की सामाजिक क्रियाओं और व्यवहार पर आर्थिक परिस्थितियों का और आर्थिक क्रियाओं एवं व्यवहार पर सामाजिक परिस्थितियों का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है। ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे के अध्ययन को व्यापकता और साथ ही निश्चितता प्रदान करने में भी सहायता करते हैं। वास्तव में समाज विशेष की परम्पराएँ, प्रथाएँ, संस्थाएँ तथा लोक-विश्वास आर्थिक क्रियाओं को काफी प्रभावित करते हैं और स्वयं आर्थिक क्रियाएँ सामाजिक संरचना को बहुत हद तक प्रभावित करती हैं।

आज अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र कुछ ऐसी समस्याओं का अध्ययन करते हैं जो एक-दूसरे के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं, जैसे-औद्योगीकरण, नगरीकरण, श्रम समस्याएँ, श्रम कल्याण, बेकारी, निर्धनता, ग्रामीण समस्याएँ, ग्रामीण पुनर्निमाण आदि। इन पर जब तक आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोणों से विचार नहीं किया जाता, तब तक न तो इन्हें ठीक से समझा जा सकता और न ही इन्हें हल किया जा सकता है। अनेक समस्याएँ; जैसे-अपराध, वेश्यावृत्ति, बेकारी, निर्धनता, आदि आर्थिक कारकों से काफी प्रभावित है, परन्तु इनके सामाजिक कारक भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अनेक अच्छी-से-अच्छी योजनाएँ इसलिए असफल रही हैं कि मानवीय और सामाजिक कारकों को समझने का प्रयत्न नहीं किया गया, उनकी अवहेलना की गई। मैक्स बेवर, कार्ल मार्क्स, आदि विद्वानों ने अपने अध्ययनों के माध्यमों से यह स्पष्ट कर दिया है कि आर्थिक और सामाजिक कारकों में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। अब तो अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का प्रयोग करने लगा है। वर्तमान में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में दिन-प्रतिदिन सहयोग बढ़ता जा रहा है।

## समाजशास्त्र व अर्थशास्त्र में अन्तर (Difference between Sociology and Economics)

उपर्युक्त विवरण से हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में किसी प्रकार कोई भेद या अन्तर नहीं है। इन दोनों में निम्नलिखित अन्तर पाए जाते हैं:

(1) समाजशास्त्र में प्रमुखतः सामाजिक सम्बन्धों का; जबकि अर्थशास्त्र में आर्थिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है।

(2) समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का; जबकि अर्थशास्त्र में मानव जीवन के केवल आर्थिक पक्षों का अध्ययन किया जाता है।

(3) समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है; जबकि अर्थशास्त्र एक विशिष्ट विज्ञान है।

(4) समाजशास्त्र का दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय और काफी व्यापक है; जबकि अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण आर्थिक और तुलनात्मक दृष्टि से सीमित है।

(5) समाजशास्त्र की प्रकृति समूहवादी और अर्थशास्त्र की व्यक्तिवादी है। है

(6) समाजशास्त्र एक व्यवहारात्मक विज्ञान (Behavioural Science) है अर्थात् इसमें विभिन्न समूहों से सम्बन्धित व्यक्तियों की अन्तः क्रियाओं के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है।

अर्थशास्त्र एक व्यवहारात्मक विज्ञान नहीं है। इसमें मनुष्य के आर्थिक व्यवहार के अध्ययन पर अभी तक ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया है। अब कुछ अर्थशास्त्री आर्थिक क्रियाओं का संस्थात्मक संदर्भ में अध्ययन करने में रूचि लेने लगे हैं।

(7) दोनों शास्त्रों की अध्ययन पद्धतियों में भी अन्तर पाया जाता है। समाजशास्त्र में सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, अवलोकन पद्धति, समाजमिति (Sociometry), आदि का प्रयोग किया जाता है जबकि; अर्थशास्त्र में आगमन और निगमन पद्धतियों का।

(8) समाजशास्त्र के नियम सार्वभौमिक एवं स्वतन्त्र है। इनके द्वारा घटनाओं को उनके वास्तविक रूप में चित्रित किया जाता है। अर्थशास्त्र के नियम पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होते, उनके साथ ये शब्द जुड़े रहते हैं-'अन्य बातों के समान रहने पर'। इनमें प्रत्येक घटना का सम्बन्ध आर्थिक कारकों के साथ जोड़ा जाता है।

## समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र (SOCIOLOGY AND POLITICAL SCIENCE)

समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ समय पूर्व तक राज्य और समाज में कोई भेद नहीं किया जाता था और इसी कारण समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र एक ही विषय के अन्तर्गत आते थे। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में राज्य और समाज में अन्तर किया जाने लगा तथा राज्य का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के द्वारा और समाज, परिवार, धर्म, एवं कानून, आदि का अध्ययन समाजशास्त्र के द्वारा किया जाने लगा।

राजनीतिशास्त्र की रुचि, प्रमुखतः सत्ता (Power) के अध्ययन में है। इस शास्त्र के द्वारा राज्य तथा राजकीय प्रशासन के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है। राजनीतिशास्त्र संगठित मानव सम्बन्धों (राजनीतिक सम्बन्धों) का अध्ययन करता है और ये सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों का ही एक अंग है। गार्नर ने लिखा है कि राजनीतिशास्त्र केवल एक ही प्रकार के मानव सम्बन्ध, राज्य से सम्बन्धित है, जबकि समाजशास्त्र सब प्रकार के सामाजिक समबन्धों से। व्यक्ति का राजनीतिक जीवन और सामाजिक जीवन एक-दूसरे से इतना घुला-मिला है कि न तो राजनीतिशास्त्र द्वारा और न ही समाजशास्त्र द्वारा उसका पूर्णता से अध्ययन किया जा सकता है। दोनों शास्त्रों के लिए एक-दूसरे का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। दोनों ही एक-दूसरे के ज्ञान का उपयोग अपने-अपने क्षेत्र में करते हैं। **गिडिंग्स** ने लिखा है कि प्रत्येक राजनीतिशास्त्री, समाजशास्त्री और प्रत्येक समाजशास्त्री राजनीतिशास्त्री होता है। आपके अनुसार समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों से अपरिचित लोगों को राज्य के सिद्धान्तों को पढ़ाना उसी प्रकार बेकार है; जिस प्रकार ऐसे व्यक्तियों को ज्योतिष (Astronomy) पढ़ाना, जिन्होंने न्यूटन के सिद्धान्त (Law of Motion) को नही सीखा हो। कहने का तात्पर्य यह है कि राजनीतिशास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धान्तों को समझने के लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे पर काफी निर्भर है। गिलक्राइस्ट ने बताया है कि राजनीतिशास्त्र में हमें मानव सम्बन्धों के उन तथ्यों और सिद्धान्तों को अवश्य ही ग्रहण करना होगा; जिनका अध्ययन और प्रतिपादन करना समाजशास्त्र का दायित्व है। समाजशास्त्र व्यक्ति को सामाजिक प्राणी और राजनीतिशास्त्र उसे अच्छा नागरिक बनाने का प्रयत्न करता है। वर्तमान में तो इन दोनों शास्त्रों का सम्बन्ध इतना बढ़ गया है कि परिणामस्वरूप समाजशास्त्र की एक नवीन शाखा **'राजनीतिक समाजशास्त्र'** (Political Sociology) का विकास हुआ है। पिछले करीब पचास वर्षों में समाजशास्त्री राजनीतिक व्यवहार सम्बन्धी अनुसन्धानों में विशेष रुचि लेने लगे हैं। अब राजनीति-

वैज्ञानिक का ध्यान भी इस ओर गया है।

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में काफी आदान-प्रदान होता है। राजनीतिशास्त्र मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी मानता है, परन्तु वह राजनीतिक प्राणी क्यों और कैसे बना, यह जानकारी समाजशास्त्र ही प्रदान करता है। **बार्न्स** ने इन दोनों शास्त्रों में आदान-प्रदान के सम्बन्धो को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समाजशास्त्र तथा आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राजनीतिक सिद्धान्त में पिछले तीस वर्षों में होने वाले अधिकांश परिवर्तन समाजशास्त्र द्वारा सुझाए गए और बताए गए मार्ग या ढंग के अनुसार हुए हैं। अब तो समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं पद्धतियों का राजनीतिशास्त्र में काफी प्रयोग होने लगा है वास्तव में राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए, उदाहरण के रूप में मतदान-प्रतिमान या मतदान व्यवहार को जानने के लिए सामाजिक तथ्यों, विभिन्न सामाजिक संस्थाओं; जैसे-जाति प्रणाली, संयुक्त परिवार प्रणाली, वर्ग-भेद, स्त्रियों की स्थिति, आदि के सम्बन्ध में जानकारी आवश्यक है। प्रमाणिक आधार पर यह जानकारी हमें समाजशास्त्र से ही मिल सकती है। सामाजिक व्यवस्था और संगठन पर राज्य के कार्यों का काफी प्रभाव पड़ता है। राज्य के द्वारा पारित कानून प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, संस्थाओं और मूल्यों को काफी प्रभावित करते हैं। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 तथा अनेक अन्य अधिनियमों ने सामाजिक जीवन और लोगों के व्यवहार को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में हम कह सकते हैं कि दोनों विज्ञानों की यथार्थ सीमाओं को दृढ़ता के साथ परिभाषित नहीं किया जा सकता है। वे कभी-कभी एक-दूसरे की सीमा में प्रवेश करते हैं, लेकिन फिर भी उन दोनों में स्पष्ट भेद है।

## समाजशास्त्र व राजनीतिशास्त्र में अन्तर
## (Difference between Sociology and Political; Science)

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में निम्नलिखित अन्तर पाए जाते हैं:

(1) समाजशास्त्र समाज के सभी पक्षों का अध्ययन करता है; जबकि राजनीतिशास्त्र अपने को प्रमुखतः औपचारिक संगठनों में व्याप्त सत्ता (Power) के अध्ययन तक सीमित रखता है।

(2) समाजशास्त्र विभिन्न संस्थाओं; जिनमें सरकार भी शामिल है, के परस्पर सम्बन्ध पर जोर देता है. जबकि राजनीतिशास्त्र सरकार के भीतर चलने वाली प्रक्रियाओं पर।

(3) समाजशास्त्र सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है, जबकि राजनीतिशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के एक भाग संगठित सम्बन्धों, विशेषतः राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है।

(4) समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है, जबकि राजनीतिशास्त्र एक विशेष विज्ञान है।

(5) समाजशास्त्र सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक सभी प्रकार के साधनों के अध्ययन में, जबकि राजनीतिशास्त्र उन औपचारिक साधनों के अध्ययन में; जिन्हें राज्य की अभिमति प्राप्त है, जैसे-कानून में रुचि रखता है।

(6) समाजशास्त्र वर्तमान स्थिति का यथार्थ चित्रण करता है, न कि क्या होना चाहिए का। राजनीतिशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान (Normative Science) के रूप में क्या होना चाहिए पर जोर देता है। यह शास्त्र बताता है कि भविष्य में राज्य की नीतियाँ क्या होनी चाहिए, सरकार का रूप कैसा होना चाहिये, आदि।

(7) इन दोनों विज्ञानों के बीच पाए जाने वाले अन्तर को स्पष्ट करने की दृष्टि से **गिलक्राइस्ट** ने लिखा है कि समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है, राजनीतिशास्त्र राज्य या राजनीतिक समाज का। समाजशास्त्र मनुष्य का एक सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करता है और क्योंकि राजनीतिक संगठन सामाजिक संगठन का एक विशेष प्रकार है, इसलिए राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र की बजाय अधिक विशिष्ट विज्ञान है।

(8) समाजशास्त्र एक व्यवहारात्मक विज्ञान है, परन्तु राजनीतिकशास्त्र व्यवहारात्मक विज्ञान की श्रेणी में नहीं आता है, परन्तु अब राजनीतिशास्त्र में व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करने की प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

(9) दोनों शास्त्रों की अध्ययन पद्धतियों में भी काफी अन्तर पाया जाता है। समाजशास्त्र में सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, अवलोकन और साक्षात्कार पद्धति, समाजमिति, आदि का प्रयोग किया जाता है; जबकि राजनीतिशास्त्र में आगमन और निगमन पद्धतियों का। अब राजनीतिशास्त्र भी समाजशास्त्र में प्रयुक्त पद्धतियों को काम में लेने लगा।

(10) समाज का विकास राज्य से पहले हुआ और इस दृष्टि से समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र की तुलना में अधिक प्राचीन है। इतना अवश्य है कि समाजशास्त्र का एक विज्ञान के रूप में विधिवत् अध्ययन राजनीतिशास्त्र के बाद में शुरू हुआ।

## समाजशास्त्र और इतिहास (SOCIOLOGY AND HISTORY)

समाजशास्त्र और इतिहास के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों शास्त्रों की विषय-वस्तु में खास अन्तर नहीं होकर दृष्टिकोण में अन्तर है। इतिहास भूतकाल की विशिष्ट घटनाओं का वर्णन करता है, उन घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्धों की विवेचना करता है। भूतकाल के सम्बन्ध में ज्ञान के अभाव में न तो हम वर्तमान को भलीभाँति समझ सकते हैं और न ही भविष्य को। इतिहास उस समय-क्रम (Time Sequence) का पता लगाने का प्रयत्न करता है; जिसमें विभिन्न घटनाएँ घटित हुई। इतिहास द्वारा प्रारम्भ से लेकर अभी तक के समय के मानव-जीवन की प्रमुख घटनाओं का चित्रण किया जाता है। इस दृष्टि से इतिहास अतीत या भूतकाल की घटनाओं का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन है। समाजशास्त्र अतीत की पृष्ठिभूमि में वर्तमान समाज का अध्ययन है। यही कारण है कि इतिहास अतीत का समाजशास्त्र और समाजशास्त्र समाज का वर्तमान इतिहास कहलाता था। किसी समय इतिहास राजा-महाराजाओं, प्रमुख तारीखों व युद्धों की कहानी थी, परन्तु अब इसके द्वारा सामाजिक घटनाओं का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जाता है। ये सामाजिक घटनाएँ समाजशास्त्र से सम्बद्ध हैं। इतिहास विभिन्न युगों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का अध्ययन है। समाजशास्त्र ऐतिहासिक अध्ययनों से प्राप्त सामग्री के आधार पर वर्तमान युग के सामाजिक जीवन को समझने का प्रयास करता है।

समाजशास्त्र और इतिहास दोनों ही सभ्यता एवं संस्कृति का अध्ययन करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि इतिहासकार इनका अध्ययन समय-क्रम के अनुसार करता है; जबकि समाजशास्त्री वर्तमान समय की सभ्यता एवं संस्कृति का। इन दोनों ही शास्त्रों के द्वारा संघर्ष, क्रान्ति एवं युद्ध का अध्ययन किया जाता है, परन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से। इतिहास इनका अध्ययन विशिष्ट घटना के रूप में करता है; जबकि समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रिया के रूप में या सामाजिक विघटन के सामूहिक प्रकार के रूप में। समाजशास्त्री संघर्ष, क्रान्ति एवं युद्ध के कारणों एवं परिणामों की विवेचना भी करता है।

ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे पर काफी निर्भर है, एक-दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री ऑगस्ट कॉम्ट एवं स्पेन्सर, आदि के अध्ययनों पर इतिहास की स्पष्ट छाप झलकती है। समाजशास्त्री अध्ययनों में इतिहास द्वारा प्राप्त सामग्री-सामाजिक तथ्यों एवं सूचनाओं का काफी प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्रियों को अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा अवधारणाओं व प्रारूपों के निर्माण में इतिहास द्वारा प्रस्तुत सामग्री से काफी सहायता मिलती है; जैसा कि दुर्खीम के 'श्रम-विभाजन के सिद्धान्त' एवं 'आत्म-हत्या के सिद्धान्त' से स्पष्ट है। मैक्स बेबर द्वारा भी समाजशास्त्रीय अध्ययनों में ऐतिहासिक सामग्री का काफी प्रयोग किया गया है। समाजशास्त्र में इतिहास के प्रभाव के फलस्वरूप ही **'ऐतिहासिक समाजशास्त्र'** (Historical Sociology) का विकास हो सका। इसी प्रकार समाजशास्त्र के प्रभाव के परिणामस्वरूप इतिहास से **'सामाजिक इतिहास'** (Social History) का विकास हो सका। जी. जी. कौल्टन, जेकब बुर्कहार्ट, टायनबी, आदि इतिहासकारों ने **सामाजिक इतिहास** लिखा जो सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक प्रतिमानों, रूढ़ियों तथा महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के क्रमिक विकास से सम्बन्धित है। दूसरी ओर कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों; जैसे-मैक्स वेबर, गिन्सबर्ग, रेमण्ड एरो, सिगमण्ड-डायमण्ड, रोबर्ट बेला, आदि ने ऐतिहासिक समस्याओं पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार कर ऐतिहासिक समाजशास्त्र के विकास में अपूर्व योग दिया। अब दोनों ही शास्त्र एक-दूसरे की अध्ययन पद्धतियों का उपयोग समाज एवं सामाजिक घटनाओं को समझने में करने लगे हैं।

समाजशास्त्र व इतिहास में अन्तर (Disffernece Between Socilogy and History) समाजशास्त्र व इतिहास में पाए जाने वाले कुछ अन्तर निम्नांकित हैं-

(1) इतिहास विशेष विज्ञान है; जिसका सम्बन्ध ऐतिहासिक घटनाओं से है। समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है; जिसका सम्बन्ध सभी प्रकार के घटनाओं से है।

(2) इतिहास का सम्बन्ध प्रमुखतः भूतकाल के साथ है; जबकि समाजशास्त्र का वर्तमान के साथ।

(3) इतिहास मूर्त का और समाजशास्त्र अमूर्त का अध्ययन है। पार्क ने लिखा है कि इतिहास मानव अनुभव और मानव प्रकृति का मूर्त और समाजशास्त्र अमूर्त विज्ञान है।

(4) इतिहास विशिष्ट घटनाओं का अध्ययन करता है; जबकि समाजशास्त्री विभिन्न घटनाओं के आधर पर सामान्यीकरण (Gernalization) करता है। **बीरस्टीड** ने लिखा है कि इतिहास अपने को समान घटनाओं में भिन्नताओं का पता लगाने में लगाता है, जबकि समाजशास्त्र अपने को विभिन्न घटनाओं में समानताओं का पता लगाने में।

(5) ऐतिहासिक अध्ययन प्रमुखतः विवरणात्मक होते हैं; जबकि समाजशास्त्रीय अध्ययन विश्लेषणात्मक।

(6) इतिहास में विवरणात्मक एवं ऐतिहासिक पद्धति का; जबकि समाजशास्त्र में वैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है।

(7) इतिहास की घटनाओं का परीक्षण एवं पुनरीक्षण नहीं हो सकता क्योंकि ये घटनाएँ सामान्यतः एक बार घटित होती हैं। समाजशास्त्र में निष्कर्षो का परीक्षण और पुनर्परीक्षण सम्भव है। इसी आधार पर इतिहास की अपेक्षा समाजशास्त्र को अधिक प्रामाणिक विज्ञान माना गया है।

## समाजशास्त्र और मानवशास्त्र (SOCIOLOGY AND ANTHROPOLOGY)

सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। सम्बन्धों की इसी

घनिष्ठता के कारण इनमें कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना सम्भव नही है। **इवान्स प्रिचार्ड** की तो मान्यता है कि सामाजिक मानवशास्त्र को समाजशास्त्रीय अध्ययनों की एक शाखा माना जा सकता है; वह शाखा जो प्रमुखतः स्वयं को आदिम समाजों के अध्ययन में लगाती है। जब लोग समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं तो साधारणतया उनके मस्तिष्क में सभ्य समाजों की विशिष्ट समस्याओं के अध्ययन चित्र होते हैं। **कीसिंग** ने लिखा है कि सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के बीच निकट सम्बन्ध है; दोनों प्रबल रूप से समूह-व्यवहार के वैज्ञानिक सामान्यीकरण से सम्बन्धित हैं। **क्रोबर** ने समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के बीच पाए जाने वाले घनिष्ठ सम्बन्धों के आधार पर ही इन्हें जुड़वाँ बहिनें माना है। मानवशास्त्र के तीन भागो-भौतिक मानवशास्त्र, प्रागैतिहासिक मानवशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र में से समाजशास्त्र सामाजिक मानवशास्त्र के अत्यंत निकट है।

दोनों ही विज्ञानों के द्वारा समाजों का अध्ययन किया जाता है। इतना अवश्य है कि सामाजिक मानवशास्त्र के द्वारा विशेषतः आदिम समाजों (Primitive Societies) का अध्ययन किया जाता है; जबकि समाजशास्त्र द्वारा आधुनिक जटिल सभ्य समाजों का। सामाजिक मानवशास्त्र में समाजों का उनकी सम्पूर्णता में अध्ययन किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्री आदिम लोगों की अर्थव्यवस्था का, उनके परिवार और नातेदारी संगठनों का, उनकी प्रौद्योगिकी (Technology) तथा कलाओं का सामाजिक व्यवस्थाओं के भागों के रूप में अध्ययन करता है। दूसरी ओर समाजशास्त्री पृथक्-पृथक् समस्याओं का; जैसे-विवाह विच्छेद, वेश्यावृत्ति, अपराध, श्रमिक-असंतोष, आदि का अध्ययन करता है।

सामाजिक मानवशास्त्री सरल और छोटे आदिम समाजों का अध्ययन कर समाजशास्त्री को आधुनिक जटिल सभ्य समाजों को समझने में सहायता पहुँचाता है। **क्लुखौन** के अनुसार मानवशास्त्र व्यक्ति के सामने ऐसा दर्पण प्रस्तुत करता है जिसमें वह अपने को अपनी असंख्य (असीमित) विविधता में देख सकते हैं। स्पष्ट है कि मानवशास्त्री समाजशास्त्री को मानव की प्रकृति को अधिक उत्तमता के साथ समझने में योग देता है। समाजशास्त्री आधुनिक जटिल समाजों में विशिष्ट समस्याओं का अध्ययन कर मानवशास्त्री के लिए अनेक उपकल्पनाएँ प्रस्तुत करता है। विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र मानव समाजों के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक ज्ञान का एक सामान्य पुंज है। सैद्धान्तिक ज्ञान के इस पँज का आदिम सामाजिक जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक ज्ञान का उपयोग आदिम सामाजिक जीवन को अधि क उत्तमता के साथ समझने में किया जाता है। दुर्खीम ने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययनों के द्वारा सामाजिक घटनाओं की तह या मूल में पाए जाने वाले सामाजिक कारण को ढूँढ निकाला। उन्होंने विविध घटनाओं का कारण स्वयं समाज को माना है।

संस्कृति के विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र समाजशास्त्र के काफी निकट है। किसी भी समाज के सम्बन्ध में यथार्थ जानकारी प्राप्त करने के लिए उस समाज की संस्कृति को समझना अत्यन्त आवश्यक है और इसके लिए समाजशास्त्र को मानवशास्त्र से सहायता लेनी होगी। साथ ही मानवशास्त्र को संस्कृति की उत्पत्ति और विकास को जानने के लिए समाजशास्त्र द्वारा अध्ययन की जाने वाली सामाजिक अन्तःक्रियाओं एवं सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था से परिचित होना पड़ेगा। संस्कृति के विकास में योगदान देने वाले कारकों की जानकारी समाजशास्त्र ही करता है। समाजशास्त्र सामाजिक अन्तःक्रियाओं का अध्ययन करता है और इन अन्तःक्रियाओं के परिणामस्वरूप ही किसी समाज की संस्कृति की उत्पत्ति और विकास होता है। स्पष्ट है कि दोनों विज्ञान एक-दूसरे पर काफी निर्भर हैं। **बाटोमोर** ने भारत के संदर्भ में समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र के बीच पाए जाने वाले घनिष्ठ सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारतीय समाज न तो आदिम समाजों के समान पूरी तरह से पिछड़ा हुआ है और न ही औद्योगिक समाजों के समान पूर्णतः विकसित।

ऐसे समाजों में जिनका कि भारत एक ज्वलन्त उदाहरण है, समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के मध्य अधिक अन्तर कोई अर्थ नहीं रखता है। भारत में समाजशास्त्रीय अन्वेषण, चाहे वे जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित हों, ग्राम समुदायों से अथवा औद्योगीकरण की विधि तथा उसके प्रभाव आदि से, समाजशास्त्रियों या मानवशास्त्रियों द्वारा किए जाते हैं तथा किए जाने चाहिए। इस प्रकार बाटोमोर ने इन दोनों विषयों के बीच किसी प्रकार के विभाजन को अनावश्यक माना है।

## समाजशास्त्र व मानवशास्त्र में अन्तर (Difference between Sociology and Anthoripology)

इन दोनों विज्ञानों में यद्यपि घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य पाया जाता है, परन्तु दोनों एक नही है, दोनों में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं जो इस प्रकार हैं:-

(1) इनमें विषय क्षेत्र की दृष्टि से अन्तर पाया जाता है। मानवशास्त्र प्रमुखतः आदिम समाजों का अध्ययन करता है; जबकि समाजशास्त्र सभ्य समाजों का।

(2) इन दोनों में पद्धति सम्बन्धी अन्तर भी पाया जाता है। मानवशास्त्र में प्रमुखतः 'सहभागिक अवलोकन पद्धति' का प्रयोग किया जाता है। दूसरी ओर समाजशास्त्री को निदर्शन (Sampling) की समस्या का सामना करना पड़ता है; उसे अनुसूची या प्रश्नावली आदि बनाकर सूचनाएँ एकत्रित करनी पड़ती है तथा प्रलेखों एवं सांख्यिकीय पद्धति का सहारा लेना पड़ता है।

(3) समाजशास्त्र का एक ओर सामाजिक दर्शन के साथ, तो दूसरी ओर नियोजन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। **इवान्स प्रिचार्ड** ने लिखा है कि समाजशास्त्र केवल इस बात का पता लगाने की कोशिश ही नही करता है कि संस्थाएँ कैसे कार्य करती है बल्कि यह भी बतलाता है कि उन्हें कैसे कार्य करना चाहिए, कैसे परिवर्तित होना चाहिए; जबकि मानवशास्त्र अपने को इस प्रकार के विचारों से दूर रखता है।

(4) इन दोनों विज्ञानों में एक अन्य अन्तर यह है कि मानवशास्त्र समाजों का उनके सम्पूर्ण रूप में या समग्रता में अध्ययन करता है, उनमें सम्बन्धित सभी पहलुओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करता है। समाजशास्त्र अक्सर किसी समाज के भागों (Parts) का अध्ययन करता है और सामान्यतः किसी संस्था विशेष या किसी प्रक्रिया, आदि में रुचि लेता है।

(5) मानवशास्त्री अधिकतर छोटे आत्म-निर्भर समूह या समुदाय का; जबकि समाजशास्त्री बड़े या व्यापक और अवैयक्तिक संगठनों तथा सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है।

## समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान (SOCIOLOGY AND PSYCHOLOGY)

समाजशास्त्र और मनोविज्ञान एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। समाजिक मनोविज्ञान ने तो समाजशास्त्र और मनोविज्ञान को और भी निकट ला दिया है। **मनोविज्ञान** को मस्तिष्क या मानसिक प्रक्रियाओं का विज्ञान माना गया है। जिस प्रकार समाजशास्त्र का केन्द्रीय विषय समाज और सामाजिक व्यवस्था है; उसी प्रकार मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय व्यक्तित्व (Personality) है। मनोविज्ञान की रुचि व्यक्ति में है, न कि उसकी सामाजिक परिस्थितियों में। यह शास्त्र मानसिक तत्त्वों जैसे-ध्यान, कल्पना, स्नायु प्रणाली, बुद्धि, भावना, स्मृति, मस्तिष्क की स्वाभाविकता एवं विकृति, आदि का अध्ययन करता है। इस शास्त्र के द्वारा मनुष्य के मानसिक विचारों एवं अनुभवों का अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाता

है। मनोविज्ञान प्रमुखतः व्यक्तिगत व्यवहार का अध्ययन करता है। इसमें उन मानसिक प्रक्रियाओं; जैसे- संवेगों (Emotions), प्रेरकों (Motive), चालकों (Drivers), प्रत्यक्ष बोध (Perception), बोधीकरण (Cognition), सीखना (Learning), आदि का अध्ययन किया जाता है; जो व्यक्ति को एक निश्चित प्रकार से व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। व्यक्ति में ये मानसिक प्रक्रियाएँ संगठित रूप में एक निश्चित प्रतिमान का निर्माण करती हैं; जिसे व्यक्तित्व कहते हैं। व्यक्तित्व व्यवस्था का अध्ययन करना मनोविज्ञान का प्रमुख कार्य है। **समाजशास्त्र** सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन है। इसमें सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक प्रक्रियाओं, समूहो, संस्थाओ, प्रथाओ, परम्पराओं, सामाजिक मूल्यों, सामाजिक संरचना, सामाजिक परिवर्तन, आदि का अध्ययन किया जाता है। इन्हीं से मिलकर सामाजिक परिस्थिति बनती है। समाजशास्त्र व्यक्ति के बजाय प्रमुखतः इसी सामाजिक परिस्थिति का अध्ययन करता है।

मनोविज्ञान और समाजशास्त्र का सम्बन्ध व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के साथ जुड़ा हुआ है। **व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के बारे में तीन प्रकार के दृष्टिकोण** या मत पाये जाते हैं: (i) प्रथम मत के मानने वाले समाज के बजाय व्यक्ति को ज्यादा महत्त्व एवं प्राथमिकता देते हैं। फ्रायड तथा जे. एस. मिल इस मत के मानने वालों में प्रमुख हैं। इन्होंने वैयक्तिक इच्छाओं, संवेगों एवं उद्देश्यों को सामाजिक सम्बन्ध एवं संस्थाओं का आधार माना है। समाज के बजाय व्यक्ति को प्रधानता देने के कारण ही; ये विद्वान मनोविज्ञान को प्रमुख विज्ञान और समाजशास्त्र को उसकी एक शाखा मानते हैं। (ii) द्वितीय मत के मानने वाले व्यक्ति के बजाय समाज को अधिक महत्व एवं प्राथमिकता देते हैं। इस मत के समर्थकों में आगस्त कॉम्ट एवं दुर्खीम, आदि प्रमुख हैं। इन्होंने समाज का आधार व्यक्ति को न मानकर उनके बीच होने वाली अन्तःक्रियाओं को माना है। इन्होंने व्यक्ति से पृथक् समाज की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया है वे तो व्यक्ति को समाज की देन मात्र मानते हैं। समाज को प्रधानता देने के कारण ही ये मनोविज्ञान के बजाय समाजशास्त्र को प्रमुख विज्ञान मानते हैं। इनके अनुसार मनोविज्ञान समाजशास्त्र की एक शाखा मात्र है। (iii) तृतीय मत के मानने वाले न तो व्यक्ति को और न ही समाज को एक-दूसरे की तुलना में अधिक महत्व और प्राथमिकता देते हैं। इस मत के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों मतों का समन्वय देखने को मिलता है। इस मत से सम्बन्धित विद्वान जैसे मैक्स वेबर, गिन्सबर्ग, डिल्थे, मैकाइवर, आदि व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं। जब व्यक्ति और समाज दोनों का ही समान महत्व है अर्थात् दोनों में कोई भी कम या अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है तो व्यक्ति से सम्बन्धित शास्त्र मनोविज्ञान और समाज से सम्बन्धित शास्त्र समाजशास्त्र में से किसी को भी एक-दूसरे की तुलना में अधिक महत्त्व एवं प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। वास्तव में ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे से काफी कुछ ग्रहण करते हैं। आधुनिक अधि कांश समाज-वैज्ञानिक इसी तीसरे मत से सहमत हैं।

व्यक्ति के मानसिक विचार और अनुभव, जिसका मनोविज्ञान में अध्ययन किया जाता है; इस दृष्टि से सामाजिक हैं कि इन पर सामाजिक पर्यावरण एवं व्यक्तियों की अन्तःक्रियाओं का प्रभाव पड़ता है। साथ ही विभिन्न व्यक्तियों की अन्तः क्रियाएँ और सामाजिक पर्यावरण; जिनका समाजशास्त्र में अध्ययन किया जाता है, मानसिक प्रक्रियाओं का परिणाम या फल है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मानसिक प्रक्रियाएँ सामाजिक परिस्थितियों से और सामाजिक परिस्थितियाँ मानसिक प्रक्रियाओं से काफी प्रभावित होती है। अतः समाजशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों एक-दूसरे से न केवल सम्बन्धित बल्कि एक-दूसरे के लिए आवश्यक भी है। इन दोनों विज्ञानों का सम्बन्ध उस समय और भी घनिष्ठ मालूम पड़ता है; जब हम **सामाजिक मनोविज्ञान** की अध्ययन वस्तु पर विचार करते हैं। **क्लाइनबर्ग** ने लिखा है, ''सामाजिक मनोविज्ञान को उस विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो व्यक्ति के व्यवहार

का अन्य व्यक्तियों से सम्बन्धित होने के रूप में अध्ययन करता है। यह (सामाजिक मनोविज्ञान) सामूहिक परिस्थितियों में व्यक्ति से सम्बन्धित है।" सामाजिक मनोविज्ञान में व्यक्ति (मनोविज्ञान की अध्ययन वस्तु) और समाज (समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु) दोनों की व्याख्या की जाती है। मनोविज्ञान व सामाजिक मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय मनुष्य है; जो समाज विशेष का सदस्य है। अतः मनोविज्ञान, सामाजिक मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र तीनों ही घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

व्यक्ति के मानसिक तत्त्वों या लक्षणों की अवहेलना करके सामाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक परिस्थितियों को ठीक से नही समझा जा सकता; साथ ही सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक परिस्थितियों की अवहेलना करके वैयक्तिक लक्षणों एवं व्यक्तित्व के विकास को भी ठीक से नहीं जाना जा सकता। व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण तथा उसके अनुभव एवं व्यवहार के प्रतिमान का आधार केवल उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएँ तथा आवश्कताएँ ही नहीं होकर सामाजिक परिस्थितियाँ भी हैं। अन्य लोगों के साथ अन्तः क्रिया करते हुए ही व्यक्ति बहुत कुछ सीखता है, अनुभव प्राप्त करता है और व्यवहार करता है। समाज, सभ्यता और संस्कृति के बीच ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है। इस प्रकार वैयक्तिक भावनाओं, उद्वेगों, प्रवृत्तियों तथा अन्य मानसिक लक्षणों का अध्ययन मनोविज्ञान, सामाजिक सम्बन्धों एवं परिस्थितियों का अध्ययन समाजशास्त्र तथा सामाजिक परिस्थितियों के बीच व्यक्ति के व्यवहार-प्रतिमानों, अनुभवों एवं व्यक्तित्व का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है। स्पष्ट है कि सामाजिक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान व समाजशास्त्र को जोड़ने का कार्य करता है।

## समाजशास्त्र व मनोविज्ञान में अन्तर (Difference between Sociology and Psychology)

यद्यपि समाजशास्त्र और मनोविज्ञान एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, परन्तु इन दोनों में निम्नलिखित भिन्नताएँ भी पाई जाती है:

(1) मनोविज्ञान का सम्बन्ध व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं से है, व्यक्तित्व-व्यवस्था से है; जबकि समाजशास्त्र का सम्बन्ध समाज, सामाजिक प्रक्रियाओं एवं सामाजिक व्यवस्था से है। मनोविज्ञान में एक ही व्यक्ति की विभिन्न क्रियाओं के अन्तःसम्बन्धों का, जबकि समाजशास्त्र में कई व्यक्तियों के बीच होने वाली अन्तः क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

(2) मनोविज्ञान का अध्ययन क्षेत्र समाजशास्त्र की तुलना में सीमित है। मनोविज्ञान व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। यह व्यक्ति के जीवन के मानसिक पहलू से सम्बन्धित है। समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करता है; व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक अन्तःक्रिया और मोटे रूप में सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है। इस प्रकार मनोविज्ञान एक विशेष सामाजिक विज्ञान है, जबकि समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक विज्ञान है।

(3) मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में अध्ययन-वस्तु के अलावा दृष्टिकोण का भी अन्तर है। व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के कारण मनोविज्ञान का दृष्टिकोण वैयक्तिक है। सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करने के कारण समाजशास्त्र का दृष्टिकोण वैयक्तिक न होकर सामाजिक है। मनोविज्ञान में व्यक्ति के व्यवहार को वैयक्तिक कारकों के आधार पर; जबकि समाजशास्त्र में सामाजिक कारकों के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया जाता है।

(4) इन दोनों शास्त्रों की अध्ययन पद्धतियों में भी भिन्नता पायी जाती है। मनोविज्ञान में प्रमुखतः मनोवैज्ञानिक परीक्षण एवं निरीक्षण तथा प्रयोगात्मक पद्धति का प्रयोग विशेषतः किया जाता है।

**स्व-प्रगति की जाँच करें :**

1. जी. ए. लुण्डबर्ग समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के सम्बन्ध में क्या विचार प्रस्तुत किया है?
2. गुड एवं हॉट ने समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के सम्बन्ध में क्या विचार प्रस्तुत किये हैं?
3. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को समझाने की दृष्टि से कोई एक उदाहरण प्रस्तुत करें।
4. समाजशास्त्र के अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध के बारे में ऑगस्त कॉम्ट के विचार प्रस्तुत करें।

समाजशास्त्र में वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, संरचनात्मक – प्रकार्यात्मक पद्धति, समाजमिति, सांख्यिकीय पद्धति, आदि का प्रमुखतः प्रयोग किया जाता है।

**निष्कर्षः** सभी सामाजिक विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं-उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। ये सभी विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं, आपस में एक-दूसरे का सहयोग करते हैं। समाज एक समग्रता है और इसी कारण जीवन के विभिन्न पक्षों को एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में समाज के विभिन्न पक्षों या पहलुओं का अध्ययन करने वाले सामाजिक विज्ञानों को एक-दूसरे से पूरी तरह पृथक् करना सम्भव नहीं है। इन विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में न केवल आदान-प्रदान का सम्बन्ध ही है, बल्कि ये एक-दूसरे के पूरक भी हैं। एक का ज्ञान दूसरे विषय को समझने में मदद भी करता है। ये सभी सामाजिक विज्ञान एक-दूसरे से मदद लेते और देते हैं क्योंकि इन सबका उद्देश्य प्रमुखतः समाज के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करते हुए उसे समग्र रूप में या सम्पूर्णता में समझना है।

## सारांश

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। ये सभी विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं, आपस में एक-दूसरे का सहयोग करते हैं। समाज एक समग्रता है और इसी कारण जीवन के विभिन्न पक्षों को एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में समाज के विभिन्न पक्षों या पहलुओं का अध्ययन करने वाले सामाजिक विज्ञानों को एक-दूसरे से पूरी तरह पृथक् करना सम्भव नहीं है। इन विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में न केवल आदान-प्रदान का सम्बन्ध ही है, बल्कि ये एक-दूसरे के पूरक भी हैं। एक का ज्ञान दूसरे विषय को समझने में मदद भी करता है। ये सभी सामाजिक विज्ञान एक-दूसरे से मदद लेते और देते हैं क्योंकि इन सबका उद्देश्य प्रमुखतः समाज के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करते हुए उसे समग्र रूप में या सम्पूर्णता में समझना है।

## स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. **जी. ए. लुण्डबर्ग** ने बताया कि हमारी स्थापित आदतों की व्यवस्था ही सन्दर्भ परिधि के निर्माण में योगदान देती है। आदतों की व्यवस्थाओं को स्पष्ट करते हुए आपने बताया है कि ये लोक-भाषा में होती हैं तथा इन्हें विश्वास, सिद्धान्त या जीवन-दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। स्पष्ट है कि परिप्रेक्ष्य या सन्दर्भ-परिधि मानव द्वारा अपने अध्ययन के उद्देश्यों, सीमाओं एवं सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए निर्मित किया गया दृष्टिकोण है।
2. **गुड एवं हॉट** का मानना है कि किसी भी घटना, स्थिति या वस्तु का अलग-अलग प्रकार से अध्ययन किया जा सकता है। आपने बताया है कि किसी भी विषय या विज्ञान की परिभाषा, अध्ययन का क्षेत्र, इसकी प्रकृति, सिद्धान्त, अवधारणाएँ, आदि उसके परिप्रेक्ष्य को तय करती है। प्रत्येक विज्ञान में घटना के सभी पक्षों पर ध्यान केन्द्रित नहीं करके केवल एक पक्ष पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। सभी वैज्ञानिक अपने-अपने विषय के विशिष्ट परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए किसी एक ही घटना या तथ्य का अध्ययन करते हैं और ज्ञान की वृद्धि में योग देते हैं।
3. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को समझाने की दृष्टि से अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जैसे फुटबाल का अध्ययन। इसका अध्ययन अलग-अलग विज्ञानवेता अपने-अपने विज्ञान के दृष्टिकोण से करेंगे। भौतिकशास्त्री, प्राणिशास्त्री, वनस्पतिशास्त्री, अर्थशास्त्री, आदि का दृष्टिकोण एक-दूसरे से भिन्न

होगा। समाजशास्त्र खेल के मैदान में सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से, प्राथमिक समूह, सहयोग, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा के दृष्टिकोण से, विभिन्न खिलाड़ियों की प्रस्थिति और भूमिका के रूप में और समग्र रूप में अलग-अलग खिलाड़ियों की क्रियाओं के आधार पर पाई जाने वाली व्यवस्था के रूप में फुटबाल पर विचार करेगा; यही समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है। यह एक विशेष दृष्टिकोण है जो अन्य विज्ञानों के दृष्टिकोण से भिन्न है। समाजशास्त्री इसी दृष्टिकोण को लेकर विभिन्न वस्तुओं या घटनाओं का अध्ययन करता है। यही कारण है कि आज कला का समाजशास्त्र, संगीत का समाजशास्त्र, ज्ञान का समाजशास्त्र, परिवार का समाजशास्त्र, आदि पाए जाते हैं। समाजशास्त्री विशेष दृष्टिकोण से सामाजिक प्रघटना को देखता और उसका अध्ययन तथा विश्लेषण करता है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में एक ओर ध्यान सामाजिक सम्बन्धों पर केन्द्रित किया जाता है और दूसरी ओर यह देखने का प्रयास किया जाता है कि किसी वस्तु या प्रघटना का हमारे सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। यहाँ पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक समूहों, सामाजिक मूल्यों, सामाजिक प्रस्थिति और भूमिका, सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक नियंत्रण, समग्र रूप में समाज में व्याप्त व्यवस्था और अव्यवस्था तथा इनमें होने वाले परिवर्तनों को विभिन्न प्रघटनाएँ किस प्रकार से प्रभावित करती हैं; यही समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है। अन्य सामाजिक विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ में उपर्युक्त विवेचन से समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य स्वतः ही स्पष्ट है। यह परिप्रेक्ष्य राजनीतिशास्त्री, अर्थशास्त्री इतिहासकार, मनोवैज्ञानिक, मानवशास्त्री आदि के परिप्रेक्ष्य से भिन्न है।

4. **ऑगस्ट कॉम्ट** के विचार-फ्रेंच विद्वान ऑगस्ट कॉम्ट ने समाजशास्त्र के अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार किया है। आपने अन्य सामाजिक विज्ञानों के अस्तित्व को ही नहीं माना है। आपका कहना है कि समाज एक समग्रता है और इस कारण सामाजिक प्रघटनाओं को अलग-अलग भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता है। अतः एक ही विज्ञान के द्वारा उसका पूर्णता में अध्ययन किया जाना चाहिए। इस कार्य को अकेला समाजशास्त्र ही कर सकता है। कोई भी अन्य अन्य सामाजिक विज्ञान समाज के किसी एक विशेष पहलू का अध्ययन करके समाज के सम्बन्ध में किसी वास्तविक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता। केवल समाजशास्त्र ही समाज का समग्र रूप में वैज्ञानिक अध्ययन करके सामाजिक जीवन और विभिन्न सामाजिक प्रघटनाओं के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी करा सकता है।

**अभ्यास प्रश्न**

1. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का अर्थ बताये।
2. समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के बीच सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।
3. समाजशास्त्र का राजनीतिशास्त्र एवं इतिहास के साथ किस प्रकार के सम्बन्ध है? स्पष्ट करें।
4. समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र एवं समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

## ekMîy&2

# समाजशास्त्रीय अध्ययनों का वैज्ञानिक और मानविकी अभिमुखन
# (Scientific and Humanistic Orientation to Sociological Studies)

**इस अध्याय के अन्तर्गत :**

- अभिमुखन का अर्थ
- समाजशास्त्रीय अभिमुखन और इसके प्रकार
- मानवतावादी अभिमुखन की विशेषताएँ और विकास

**अध्याय के उद्देश्य :**

- इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे
- समाजशास्त्रीय अभिमुखन का अर्थ और इसके प्रकार
- मानवतावादी अभिमुखन का अर्थ और इसकी विशेषताएँ
- मानवतावादी अभिमुखन का विकास

## bdkbZ&4 lek'kkL=h; vfHkeq[ku dk ifjp;] vFkZ çdkj

समाजशास्त्र के परिचय सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों समाजशास्त्र की प्रकृति, समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा, विषय-क्षेत्र एवं विषय-सामग्री, समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य आदि का गहन अध्ययन करने के उपरान्त यह प्रश्न उठता है कि समाजशास्त्र का विद्यार्थी किसी घटना का समाजशास्त्रीय अध्ययन किस प्रकार सम्पन्न करे। समाजशास्त्र के विद्यार्थी, शोधकर्ता या वैज्ञानिक के लिए आवश्यक है कि घटना का अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व उसका समाजशास्त्रीय पूर्व प्रशिक्षण या अभिमुखीकरण होना चाहिए। जब तक अध्ययनकर्ता का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य सम्बन्धी अभिमुखन या पूर्वाभिमुखीकरण नहीं होगा तब तक वह समाजशास्त्रीय अध्ययन करने के लिए सक्षम नहीं हो पाएगा। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि अध्ययनों को करने के लिए अध्ययनकर्त्ता का वैज्ञानिक या मानविकी एवं समाजशास्त्रीय अभिमुखन होना आवश्यक है। समाजशास्त्रीय अभिमुखन के अभाव में सत्य प्रमाणित और विश्वसनीय निष्कर्ष और सिद्धान्तों का निर्माण नहीं हो सकता है। अभिमुखन के इसी महत्त्व के कारण समय-समय पर समाजशास्त्र के प्रतिपादकों और समर्थकों ने समाजशास्त्रीय अभिमुखन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला है। इसी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए इस अध्याय में समाजशास्त्रीय अध्ययनों के वैज्ञानिक और मानविकी अभिमुखन या पूर्वाभिमुखीकरण के महत्त्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डाला जाएगा जैसे पूर्वाभिमुखीकरण के अर्थ, क्या हैं? समाजशास्त्रीय अभिमुखन किसे कहते हैं? समाजशास्त्र में इसके प्रमुख प्रकार कौन-कौन से है? समाजशास्त्रीय पूर्वाभिमुखीकरण के प्रकारों के विकास का इतिहास क्या है? आदि-आदि।

**अभिमुखन का अर्थ (Meaning of Orientation)**-अभिमुखन अँग्रेजी शब्द ऑरियन्टेशन का हिन्दी अनुवाद है। हिन्दी भाषा के प्रचलित पर्याय पूर्वाभिमुखीकरण, अनुस्थापना दिक् विन्यास, दिशा और अभिविन्यास आदि हैं। शब्दकोश और विश्वदार्शनिक अभिमुखन के भिन्न-भिन्न विषयों के अनुसार अनेक अर्थ देखे जा सकते हैं। यहाँ पर अभिमुखन के मात्र उन अर्थों का विवेचन प्रस्तुत है, जो इस अध्याय के शीर्षक से सम्बन्धित हैं-

अँग्रेजी शब्दकोशों के अनुसार अभिमुखन या पूर्वाभिमुखीकरण एक क्रिया या प्रक्रिया है; जिसके द्वारा व्यक्ति का अभिमुखन किया जाता है अर्थात् अभिमुखन स्थिति, वस्तु या विषय से परिचय कराने की प्रक्रिया है। पूर्वाभिमुखीकरण का शाब्दिक अर्थ; पूर्व या पहले से ही जानकारी प्रदान करना है। पूर्वाभिमुखीकरण एक मार्गदर्शक या पथ-प्रदर्शक है जो व्यक्ति का नवीन परिस्थिति या वातावरण से अनुकूलन करता है। अभिमुखन दिशा प्रदान करता है। इसे पथ-प्रदर्शिका या मार्गदर्शिका भी कह सकते हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति को निश्चित विषय, अध्ययन या कार्य से पूर्व में परिचित करवाया जाता है; जैसे-नए कर्मचारी का दो दिन तक पूर्वाभिमुखीकरण किया गया।

**समाजशास्त्रीय अभिमुखन (Socioligical Oreintation)**-समाजशास्त्रीय अभिमुखन से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है; जिसके द्वारा व्यक्ति को समाजशास्त्र के विभिन्न लेकिन महत्त्वपूर्ण पक्षों से अवगत कराया जाता है तथा समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अनुसार अध्ययन करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। समाजशास्त्रीय पूर्वाभिमुखीकरण एक प्रकार से पूर्व प्रशिक्षण की एक विशिष्ट प्रकार की प्रक्रिया है जिसके द्वारा वैज्ञानिक को समाजशास्त्रीय अध्ययन करने से पूर्व ज्ञान या जानकारी दी जाती है; जिससे कि आगे चलकर वह समाजशास्त्रीय अध्ययन करने में सक्षम सिद्ध हो सके। समाजशास्त्र में अभिमुखन एक प्रक्रिया है जो वैज्ञानिक या अध्ययनकर्ता को शोधकार्य के विभिन्न चरणों से परिचित कराती है। यह प्रक्रिया अनुसन्धानकर्ता का मार्गदर्शन करती है कि अध्ययन की समस्या का चयन, तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण, व्याख्या एवं सिद्धान्तों का निर्माण किस प्रकार से करना है।

समाजशास्त्रीय अभिमुखन या पूर्वाभिमुखीकरण एक प्रक्रिया है जिसका कार्य, अध्ययन से सम्बन्धित पूर्व में वस्तुस्थिति का ज्ञान कराना है तथा शोध की दिशा निर्धारित करना है। निष्कर्ष यह कहा जा सकता है कि यह वह प्रक्रिया है जो वास्तविक अध्ययन प्रारम्भ करने से पहले (पूर्व में) अध्ययनकर्ता का अभिमुखन एवं मार्गदर्शन करती है कि समाजशास्त्रीय अध्ययन किसे कहते हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययनों का परिप्रेक्ष्य क्या है? अध्ययन के उपागम (दिशाएँ) कौन-कौन से हैं? अध्ययन की पद्धतियाँ कौन-कौन सी हैं? समाजशास्त्रीय तथ्य कौन-कौन से हैं तथा तथ्यों के वर्गीकरण, सारणीयन, विश्लेषण के बाद निष्कर्ष कैसे निकाले जाते हैं?

**समाजशास्त्रीय अभिमुखन के प्रकार (Types of Sociological Orientation)**-समाजशास्त्र विषय की स्थापना 1838 में हुई। इसकी स्थापना से लेकर आज तक सभी गुरु-शिष्य समाजशास्त्रियों की परम्पराओं ने अभिमुखन द्वारा ऐसे अध्ययनकर्ता निर्मित करने का प्रयास किया जो समाज से सम्बन्धित वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निर्माण कर सकें; जैसे-न्यूटन का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने के लिए जो मार्गदर्शन, दिशा-निर्देश, पूर्व प्रशिक्षण करने के लिए जो पूर्वाभिमुखीकरण करने के लिए प्रयास किए गए हैं, उन्हें निम्न दो वर्गों में वर्गीकृत करके देखा जा सकता है-वैज्ञानिक अभिमुखन और मानविकी अभिमुखन।

**समाजशास्त्रीय अभिमुखन के प्रकार**

(1) वैज्ञानिक अभिमुखन

(2) मानविकी अभिमुखन

1. **वैज्ञानिक अभिमुखन (Scientific Orientation)**-अध्ययनकर्ता का जैसा अभिमुखन या शिक्षा होगी; उसी के अनुसार वह आगे चलकर अध्ययन प्रस्तुत करेगा। अगर अध्ययनकर्ता का अभिमुखन वैज्ञानिक हुआ है तो वह अध्ययन भी ऐसा करेगा जो वैज्ञानिकता के गुणों पर आधारित होगा। जिन अध्ययनकर्ताओं को वैज्ञानिक अभिमुखन दिया जाता है, उन्हें वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति और पद्धति की वैज्ञानिक विशेषताओं की शिक्षा दी जाती है। वैज्ञानिक अभिमुखन की प्रक्रिया के समय अध्ययनकर्ता को वैज्ञानिक अध्ययन की पद्धति के कई चरणों से परिचित कराया जाता है। उसे सिखाया जाता है कि सर्वप्रथम वह अध्ययन की समस्या की व्याख्या करे। दूसरे चरण में प्रमाणित तथ्यों एवं आँकड़ों को एकत्र करे। अध्ययन के तीसरे चरण में तथ्यों का वर्गीकरण करे तथा उन्हें तालिका में व्यवस्थित करके तथ्यों का पारस्परिक गुण-प्रभाव सम्बन्ध देखे। अन्तिम एवं चौथे चरण में निष्कर्ष निकाले या सिद्धान्तों का निर्माण करे। अभिमुखन की प्रक्रिया के समय अध्ययनकर्ता को यह भी सिखाया जाता है कि वह निष्कर्षों को कारण प्रभाव, प्रयोग-सिद्धता एवं सार्वभौमिकता के आधार पर प्रस्तुत करे। इन विशेषताओं पर अग्र पृष्ठों में सविस्तार प्रकाश डाला गया है। अनेक समाजशास्त्रियों ने समय-समय पर इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि अध्ययनकर्ता को अभिमुखन की प्रक्रिया के द्वारा वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य, वैज्ञानिक अध्ययन की पद्धति, वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निर्माण करना कैसे सिखाया जाए।

**वैज्ञानिक अभिमुखन का विकास (Development of Scientific Orientation)**-समाजशास्त्र की घटनाओं का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार अध्ययन करने के लिए अध्ययनकर्ता का अभिमुखन या प्रशिक्षित करने के लिए अनेक प्रयास किए गए हैं। ऐसे प्रयासों में समाजशास्त्र के प्रवर्तकों-कॉम्ट, स्पेन्सर, दुर्खीम और वेबर से लेकर इनके शिष्यों एवं अनुयायियों, पेरेटो, पारसन्स, मर्टन आदि के विचार उल्लेखनीय है; जो निम्नलिखित हैं-

## bdkbZ&5 oKkfud vfHkeq[ku dk fodkl drk

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| ऑगस्ट कॉम्ट | हर्बट स्पेन्सर | इमाइल दुर्खीम | मैक्स वेबर | विलफ्रेडो पेरेटो | टलाक्रट पारसन्स | रार्बट के. मर्टन |

1. **ऑगस्ट कॉम्ट (Auguste Comete)**-सर्वप्रथम समाजशास्त्र के जनक कॉम्ट ने समाजशास्त्रीय अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक अभिमुखन पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि समाज को एक पूर्ण इकाई मानकर अध्ययन करना चाहिए। उन्होंने ज्ञान के विकास के निम्न तीन चरण बताए धार्मिक, तात्त्विक और वैज्ञानिक। प्रथम चरण में अध्ययनकर्ता का अभिमुखन करते समय उसे यह सिखाया जाता है कि समाज की किसी घटना का अध्ययन, वर्णन एवं व्याख्या धार्मिक मान्यताओं के आधार पर करनी चाहिए। ज्ञान के विकास के दूसरे चरण में अभिमुखन में यह शिक्षा दी जाती थी कि सत्य की खोज तर्क के आधार पर करनी चाहिए। इसे तात्त्विक अवस्था या तात्त्विक अभिमुखन की अवस्था कह सकते हैं। कॉम्ट ने ज्ञान के विकास का तीसरा और अन्तिम चरण प्रत्यक्षवादी बताया है। इस अवस्था में अध्ययनकर्ता का पूर्वाभिमुखन करते समय सिखाया जाता है कि ज्ञान का आधार विज्ञान है। कॉम्ट के अनुसार इस वैज्ञानिक अवस्था में व्यक्ति का अभिमुखन करते समय उसे यह शिक्षा दी जाती है कि वह सभी क्षेत्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित सत्य की खोज प्रत्यक्ष अवलोकन, परीक्षण, कारण आदि अर्थात् वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार करे।

   (a) वैज्ञानिक अवस्था

   (b) तात्त्विक अवस्था

   (c) धार्मिक अवस्था

   **कॉम्ट** के अनुसार अभिमुखन के विकास की अवस्थाएं

2. **हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer)**-स्पेन्सर ने कॉम्ट के उत्तराधिकारी के रूप में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अभिमुखन की विचाराधारा को आगे बढ़ाया। उन्होंने अभिमुखन को स्पष्ट करते हुये लिखा, संसार में वस्तुएँ ज्ञातव्य और अज्ञातव्य दो प्रकार की होती है। ज्ञातव्य वस्तुएँ आनुभाविक तथ्य होते हैं, जिन्हें व्यक्ति देख सकता है एवं समझ सकता है। अज्ञातव्य वस्तुएँ मानवीय ज्ञान, अनुभव एवं समझ की सीमा से बाहर होती है; जिनकी व्याख्या एवं प्रभाव धर्म के आधार पर देखे जाते हैं। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक अभिमुखन और वैज्ञानिक अभिमुखन के अन्तर को स्पष्ट किया।

   स्पेन्सर ने समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक अभिमुखन में प्राणिशास्त्र के वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर जोर दिया। उन्होंने समाज की व्याख्या एवं विश्लेषण सावयवी उद्विकास के आधार पर करने का सुझाव दिया। आपने स्पष्ट भी किया कि समाज और सावयव में अनेक समानताएँ हैं। इन दोनों के उद्विकास की प्रक्रिया के चरण भी सरल से जटिल तथा न्यून विभेदीकरण से अधिकतम विभेदीकरण की ओर देखे जा सकते हैं। उन्होंने समाज एवं धर्म के उद्विकासीय सिद्धान्त प्रतिपादित करके समाजशास्त्रीय अध्ययनों को वैज्ञानिक अभिमुखन का विकास करने में उल्लेखनीय योगदान दिया। स्पेन्सर ने प्राकृतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों, विशेष रूप से जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों एवं विचारों को समाज एवं इसके पक्षों के अध्ययनों पर उपमा के रूप में लागू करके समाजशास्त्र के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का विकास किया। इस प्रकार से आपने समाजशास्त्रियों का वैज्ञानिक अभिमुखन किया।

3. **इमाइल दुर्खीम (Emile Duerkheim)**-दुर्खीम ने समाजशास्त्रीय अध्ययनों के वैज्ञानिक

अभिमुखन की प्रक्रिया का अनेक प्रकार से विकास किया है। उन्होंने लिखा है कि समाजशास्त्री को समाजशास्त्र के अध्ययन की वस्तुओं को 'सामाजिक तथ्य' (Sociol Fact) मानकर अध्ययन करना चाहिए। वे समाजशास्त्रियों का अभिमुखन करके उन्हें यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि समाजशास्त्र एक प्रत्यक्ष, यथार्थ और आनुभविक विज्ञान है। उन्होंने लिखा है कि अगर समाजशास्त्री वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करना चाहता है तो उसे निम्नलिखित नियमों का ध्यान रखना होगा-

1. सामाजिक नियमों को वस्तु माना जाए,
2. समस्त पूर्व-धारणाओं को उखाड़ फेंका जाए, और
3. सामाजिक तथ्यों का वैयक्तिक अभिव्यक्तियों से स्वतन्त्र रखकर अनुसन्धान किया जाए।

दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्री का वैज्ञानिक अभिमुखन करने के लिए उसे उपर्युक्त नियमों को सीखना होगा। उन्होंने निम्न समाजशास्त्रीय अध्ययन वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार किया है-(1) 'दा सुसाइड' (The Sucide) (2) 'दा डिविजन ऑफ लेबर इन सोसायटी' (The Division of Labour in Society), और (3) दा एलीमेन्ट्री फार्म्स ऑफ दा रिलिजियस लाइफ' (The Elementary Forms of the Religions Life) इसके अतिरिक्त आपकी पुस्तक 'दा रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मेथड्स (The Rules of Sociological Methods) समाजशास्त्रियों के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य सम्बन्धी अभिमुखन के लिए उत्तम पुस्तकें हैं। दुर्खीम ने 'यांत्रिक एकता', 'सावयवी एकता', 'सामूहिक प्रतिनिधान' आदि अवधारणाओं का निर्माण करके समाजशास्त्र के अध्ययनों के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य सम्बन्धी अभिमुखन करने के लिए आधार प्रदान किए

4. **मैक्स वेबर**-वेबर ने समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों-अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के विकास करने में विशेष योगदान किया है। उन्होंने सुझाव दिया कि समाजशास्त्री को केवल वैज्ञानिक विश्लेषण अर्थात् "क्या है"? (What is) का अध्ययन करना चाहिए तथा मूल्यांकनात्मक निर्णयों अर्थात् 'क्या होना चाहिए? (What Should be) से दूर रहना चाहिए। उनका कहना था कि एक घटना जिस रूप में है उसी रूप में उसका यथार्थ अवलोकन एवं विश्लेषण करना चाहिए। वैज्ञानिकों को घटना से सम्बन्धित अच्छा-बुरा, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित आदि का मूल्यांकन नही करना चाहिए। उन्होंने समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अभिमुखन करने के सम्बन्ध में यह भी कहा कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में प्राकृतिक विज्ञानों की विधि यों का प्रयोग नही करना चाहिए। मानवीय सम्बन्धों के अध्ययन को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के विकास करने के लिए उन्होंने एक विशेष अध्ययन पद्धति 'वरस्तेहन' (Verstehen) का विकास किया। इस पद्धति के अनुसार सामाजिक क्रियाओं के व्याख्यात्मक विश्लेषण करने के लिए क्रिया में भाग लेने वालों की स्थिति में समाजशास्त्री अपने आपको रखकर क्रियाओं व उनके प्रभावों का अध्ययन करता है। इस 'वरस्तेहन पद्धति' का महत्त्व स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि प्राकृतिक घटनाओं और सामाजिक घटनाओं में अन्तर है। प्राकृतिक वस्तुओं का वस्तुपरक अध्ययन किया जा सकता है क्योंकि उनके अध्ययन की वस्तु के पास बुद्धि नहीं है। मानव के पास बुद्धि है, तर्क शक्ति है। वह सामाजिक क्रियाओं को समझने के बाद प्रतिक्रिया करता है। इस प्रकार से सामाजिक क्रिया के अध्ययन के दो दृष्टिकोण होते हैं-(1) एक वह जो दिख रहा है, इसे वेबर ने वस्तुपरक बताया है और दूसरी वह जो क्रिया में भाग लेने वाले सहभागियों के अनुसार हो रहा है; जिसे ज्ञात करने

के लिए उन्होंने 'वरस्तेहन' पद्धति का सुझाव दिया। आपके अनुसार सामाजिक घटना में जो कुछ दिख रहा है; वह वैज्ञानिक नहीं है बल्कि जो कुछ सहभागी समझ रहे हैं, कर रहे हैं, निर्णय ले रहे है, वह वैज्ञानिक है, जिसे ज्ञात करने के लिए सहभागियों के व्यक्तिपरक या विषयपरक दृष्टिकोण से अध्ययन करके ही समझा, देखा, परखा एवं विश्लेषित किया जा सकता है। आप मूल्य-युक्त अध्ययन के समर्थक रहे हैं। वेबर के अनुसार समाजशास्त्र में यही वैज्ञानिक अभिविन्यास है। इसे उन्होंने समाजशास्त्र की परिभाषा में भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो कि सामाजिक क्रियाओं के व्याख्यात्मक बोध को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है; जिससे उसकी प्रक्रिया एवं प्रभावों की बुद्धिसंगत व्याख्या की जा सके।"

वेबर के समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक अभिविन्यास को उनके द्वारा प्रतिपादित निम्न अवधारणाओं, प्रारूपों एवं सिद्धान्तों में देखा जा सकता है-सामाजिक क्रिया, आदर्श प्रारूप, सत्ता, नौकरशाही, सामाजिक वर्ग और प्रस्थिति, धर्म का समाजशास्त्र, पूँजीवाद आदि। उनके द्वारा प्रदान किए गए ज्ञान के अध्ययन के द्वारा अध्ययनकर्ता का वैज्ञानिक अभिमुखन होता है।

5. **विलफ्रेडो परेटो**-ये समाजशास्त्र के दृष्टिकोण एवं अध्ययन पद्धति को वैज्ञानिक दिशा प्रदान करना चाहते थे। उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानों के समान समाज के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया जाना चाहिए। इन्होंने समाजशास्त्र में तार्किक-प्रयोगात्मक पद्धति का अनुसरण करने के लिए निम्न स्तरों का सुझाव दिया-(1) निरीक्षण, (2) तथ्ययुक्त या वैषयिक अनुभव और (3) तर्कसंगत निष्कर्ष।

   परेटो ने वैज्ञानिक अभिमुखन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में लिखा है कि समाजशास्त्री सामाजिक घटनाओं का अध्ययन अनुभवों के आधार पर करे। सामाजिक घटनाओं को वास्तविक निरीक्षण एवं प्रयोग की कसौटी पर जाँच करे, इसके बाद विभिन्न घटनाओं के समान तत्त्वों की खोज करे, समानताओं के आधार पर समाजशास्त्रीय सामान्यीकरण करे अथवा नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादित करे। इस प्रकार से परेटो ने समाजशास्त्रीय पद्धति एवं परिप्रेक्ष्य की नींव को वास्तविक, यथार्थ एवं वैज्ञानिक बनाने एवं वैज्ञानिक अभिमुखन के लिए प्रयास किया।

6. **टालकॉट पारसन्स**-आपने समाजशास्त्रीय अध्ययनों के परिप्रेक्ष्य को वैज्ञानिकता प्रदान करने एवं अभिमुखन करने के लिए निम्नांकित मानदण्डों एवं विशेषताओं को आवश्यक बताया है-

   **पारसन्सः समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक अभिमुखन की विशेषताएँ-**

   (i) आनुभविकता

   (ii) तार्किक स्पष्टता

   (iii) तार्किक सुसंगता

   (iv) सिद्धान्तों की सामान्यता

   **(i) आनुभविकता (Empiricism)**-समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में सिद्धान्त, प्रयोग सिद्ध तथ्यों पर आधारित होने चाहिए। इनका संकलन मानव की पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अनुभवजन्य होना चाहिए।

   **(ii) तार्किक स्पष्टता-(Logical Clarity)**-विभिन्न सिद्धान्तों, उनमें वर्णित तथ्यों, वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं आदि में तार्किक स्पष्टता होनी चाहिए।

**(iii) तार्किक सुसंगता (Logical Consistency)**-किसी भी सिद्धान्त की समस्त परिस्थितियों में पारस्परिक तार्किक सुसगता भी आवश्यक है।

**(iv) सिद्धान्तों की सामान्यता (Generality of Principles)**-सिद्धान्त ऐसे होने चाहिए जो सभी स्थानों एवं कालों में सत्य एवं प्रमाणित सिद्ध हो। सिद्धान्तों में सार्वभौमिकता का गुण होना चाहिए।

7. **रॉबर्ट के मर्टन**-मर्टन ने भी समाजशास्त्रीय अध्ययनों का वैज्ञानिक अभिमुखन करने के लिए निम्नांकित पाँच आधारों को महत्त्वपूर्ण बताया है-

**मर्टनः समाजशास्त्रीय अध्ययनों के वैज्ञानिक अभिविन्यास के आधार**

(i) सार्वभौमिकता

(ii) संगठित सन्देहवाद

(iii) सम्प्रेषणीयता

(iv) नैतिक तटस्थता

(v) रुचिहीनता

**(i) सार्वभौमिकता (Universiality)**-वैज्ञानिक सिद्धान्त, तथ्य एवं नियम सभी स्थानों एवं कालों में समान रूप में सत्य, प्रमाणित एवं विश्वसनीय होने चाहिए। ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार से न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का नियम सभी स्थानों एवं कालों में लागू होता है।

**(ii) संगठित सन्देहवाद (Organized Sceptieism)**-विज्ञान परम्पराओं के विश्वास पर आध रित नहीं होता है। ये संगठित संदेह की खोज और अन्वेषण पर आधारित होते हैं। मर्टन का कहना है कि वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य, तथ्यों को प्रामाणिकता प्रदान करने से पूर्व उनकी सत्यता का परीक्षण एवं प्रभाविकता की जाँच करता है।

**(iii) सम्प्रेषणीयता (Communicability)**-वैज्ञानिक अनुसन्धान के परिणाम को वैज्ञानिक समुदाय में समान रूप से संचारित एवं प्रसारित किया जाता है। इनका वैज्ञानिक जगत में आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाता है। खोज, परिणाम, प्रतिक्रियाएँ, मूल्यांकन आदि शोध -पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करके सम्प्रेषित किए जाते हैं।

**(iv) नैतिक तटस्थता (Ethicial Neutrality)**-वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के लिए आवश्यक है कि घटनाओं का अध्ययन नैतिक रूप में तटस्थ, मूल्य-मुक्त तथा पक्षपात रहित हो। अच्छा-बुरा, सही, सुन्दर, उचित आदि से समाजशास्त्रीय अध्ययनों का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।

**(v) रुचिहीनता (Disinterestedness)**-वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य सभी प्रकार के पक्षपातों, भावनाओं, पसन्द-नापसन्द आदि अभिरुचियों से स्वतंत्र होना चाहिए। यह मूल्यमुक्त (Value-Free) होता है न कि मूल्यबद्ध (Value-loaded)

मर्टन ने समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयों के कार्यों को निम्न तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया है-(1) प्रकार्य, (2) अकार्य और (3) दुष्कार्य। प्रकार्य जो सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने एवं समायोजन लाने में सहायक होते हैं। दुष्कार्य अव्यवस्था में वृद्धि करते हैं। अकार्य तटस्थ एवं निष्क्रिय कार्य होते है। मर्टन ने प्रकार्य और दुष्कार्य को

निम्न दो उप-भागों में विभाजित किया है-1. प्रत्यक्ष, और 2. अप्रत्यक्ष कार्य। आपके अनुसार प्रत्यक्ष कार्य वस्तुपरक परिणाम है जो व्यवस्था में अनुकूलन और समायोजन में योगदान देता है तथा व्यवस्था में भाग लेने वालों द्वारा मान्य एवं चाहे जाते हैं। अप्रत्यक्ष कार्य न तो चाहे जाते हैं और न ही मान्यता प्राप्त होते हैं। क्रिया के अनचाहे परिणाम तीन प्रकार के हैं

(1) वे जो निर्दिष्ट व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक हैं और वे अप्रत्यक्ष हैं,

(2) वे जो निर्दिष्ट व्यवस्था के लिए दुष्कार्यात्मक हैं और वे अप्रत्यक्ष हैं, और

(3) वे जो निर्दिष्ट व्यवस्था से सम्बन्धित नही हैं और उनका कैसा भी प्रकार्यात्मक एवं दुष्कार्यात्मक प्रभाव नहीं पड़ता है।

इस प्रकार से मर्टन ने समाज के सभी पक्षों को अध्ययन की योजना प्रदान करके समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य और अभिमुखन को वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए कॉम्ट द्वारा प्रारम्भ किए गए कार्य को पूरा किया। कॉम्ट ने समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए ज्ञान का वैज्ञानिक अवस्था में विकसित हो जाना आवश्यक बताया तथा लिखा कि आज समाज के अध्ययन करने वाले विषय समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य का आधार स्वतः ही वैज्ञानिक है। इसलिए अध्ययनकर्ता का अभिमुखन भी वैज्ञानिक होना चाहिए। स्पेंसर ने समाजशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों को समाज पर लागू करके समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता के परिप्रेक्ष्य को आगे बढ़ाया है। दुर्खीम ने 'सामाजिक तथ्यों को वस्तु माना जाए' का विचार देकर प्राकृतिक विज्ञान के समकक्ष खड़ा करने का प्रयास किया। वेबर ने सामाजिक विज्ञानों, विशेष रूप से समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य को वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए 'वरस्तहेन' (व्यक्ति-परक) अध्ययन पद्धति प्रदान की। समकालीन समाजशास्त्रियों में किंग्स्ले डेविस ने प्रारम्भ में तो वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का समर्थन किया था, परन्तु वाद में आपने मानवतावादी परिप्रेक्ष्य को भी महत्त्व दिया। समाजशास्त्रियों के उपर्युक्त प्रयासों से स्पष्ट हो जाता है कि जैसा कि समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य होगा; उसी के अनुसार अध्ययनकर्ता का अभिमुखन करना होगा। अगर इस अध्ययनकर्ता से यह अपेक्षा करते हैं कि वह वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर समाजशास्त्रीय अध्ययन करें तो हमें उसका पूर्व प्रशिक्षण, पूर्वाभिमुखीकरण या अभिमुखन भी वैज्ञानिक करना होगा। जैसा कि उपर्युक्त पृष्ठों में वर्णित किया जा चुका है; कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की प्रवृत्ति मानवतावादी होनी चाहिए। यह स्पष्ट है कि मानवतावादी दृष्टिकोण से अध्ययन करने के लिए अध्ययनकर्ता का मानवतावादी अभिमुखन करना होगा; जिसकी विवेचना निम्नलिखित हैं-

## bdkb&6 ekuorkoknh vfHke|[ku vFk] fo'k"krk,।

कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसारसमाजशास्त्र के अध्ययन का परिप्रेक्ष्य मानवतावादी है। इसलिए मानवतावादी दृष्टिकोण से अध्ययन करनेवाले समाजशास्त्रियों का प्रशिक्षण या अभिमुखन मानवतावादी होना चाहिए। किंग्सले डेविस नेंलिखा हैकिभौतिक विज्ञानों की घटनाएँ एवं तथ्य बुद्धिहीन होते हैं। उनमें विचार शक्ति नहीं होती है। उनके पाससंस्कृति नहीं होती है। लेकिन समाजशास्त्र की विषय-सामग्रीमानव समाज है। मानव की सामाजिक क्रियाएँहैं; जिनकी विशेषताएँ नैतिकता, भावुकता कानून,आदर्शात्मक, सामाजिक समानता, मूल्य, आदर्श आदिविशेषताएँ होती हैं। मानव समाज तथ्यात्मकव्यवस्था ही नहीं है बल्कि एक आचार व्यवस्था भी है। इनदोनों में परस्पर सम्बन्ध और आत्मनिर्भरता भी होती है। मानव समाज का अध्ययन करते समय मानवीयअभिवृत्ति का भी ध्यान रखना आवश्यकहोता है। निष्कष र्यही निकलता है कि अगर मानव समाज कोसमझना है तो अध्ययनकर्ता कामानवतावादी अभिमुख न होना आवश्यक हा ै

**मानवतावादी अभिमुखन का अर्थ (Meaning of Humanisitic Orientation)**-मानवतावादी

अभिमुखन या पूर्व प्रशिक्षण वह है जो अध्ययनकर्ता को समाज का मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के अनुसार अध्ययन करने के लिए तैयार और सक्षम करता है। इस अभिमुखन के द्वारा समाजशास्त्री मानव-हितों का ध्यान में रखकर अध्ययन करने में समर्थ होता है। उसे सिखाया जाता है कि वह अपने अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य मानव हितों का अध्ययन करना ही समझे। मानव जाति के कल्याण के लिए अध्ययन करना ही मानवतावादी अभिमुखन है।

मानवतावादी अभिमुखन द्वारा समाजशास्त्री में मानव जाति के कल्याण के लिए एक दार्शनिक अभिनति और उत्तरदायित्व की भावना पैदा की जाती हैं। उसमें मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का विकास किया जाता है। मानवतावादी अभिमुखन द्वारा अध्ययनकर्ता को सिखाया जाता है कि वह अपना दृष्टिकोण और असमानता के कारणों की खोज करना अपना प्रमुख लक्ष्य रखे। उसे असह्य, असमर्थ, दीन-हीन मनुष्यों की परिस्थितियों का अध्ययन करना सिखाया जाता है। कल्याणकारी योजनाएँ तैयार करना सिखाया जाता है।

वह अभिमुखन जो 'क्या होना चाहिए?' और 'क्या नहीं होना चाहिए?" के अध्ययन पर जोर देता है। मानवतावादी अभिमुखन कहलाता है। वह अभिमुखन जो अध्ययनकर्ता में मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का विकास करें, मानवतावादी दृष्टिकोण को नियंत्रित, निर्देशित और संचालित करे; वह मानवतावादी अभिमुखन है। इस अभिमुखन की विशेषताओं का अध्ययन करके इसे और स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

**मानवतावादी अभिमुखन की विशेषताएं (Characterisitics of Human Oreintation)**-इस अभिमुखन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है:-(1) इस अभिमुखन का उद्देश्य मूल्यबद्ध अध्ययन करना होता है। (2) यह अभिमुखन 'क्या होना चाहिए?' और 'क्या नहीं होना चाहिए?' को प्राथमिकता देता है। (3) यह मानव से सम्बन्धित सभी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक आदि समस्याओं के प्रति चिन्तित एवं वचनबद्ध होता है। (4) इस अभिमुखन का उद्देश्य ज्ञान को मात्र प्राप्ति के लिए अर्जित करना नहीं होता है बल्कि मानव-कल्याण के उपयोग के लिए प्राप्त करना होता है। (5) यह अभिमुखन अध्ययनकर्ता को राजनीतिक रूप से मानवीय वामपंथी विचारधारा का समर्थक बनाता है, और (6) यह अध्ययनकर्ता को अवधारणाओं, भाषा, अध्ययन-पद्धति आदि की सरलता को प्रोत्साहित करना सिखाता है।

**मानवतावादी अभिमुखन का विकास (Development of Humanistic Orientation)**-मानवतावादी अभिमुखन का विकास वेबर की वरस्तहेन अध्ययन-पद्धति से देखा जा सकता है। इस पद्धति के द्वारा वेबर ने समाज को समझने के लिए लोगों के कार्यों तथा अभिप्रेरणाओं की आन्तरिक समझ के आधार पर व्याख्या करने पर जोर दिया था। इस विचार को अल्फ्रेड शूट्ज (Alfred Schutz) ने आगे बढ़ाया है। इन्होंने वेबर की निगमनात्मक विधि को एडमण्ड हसरल (Edumund Husseral) के घटना क्रियावाद से जोड़ा और लिखा कि मानव प्रतिबिम्ब और व्याख्या की प्रक्रियाओं के द्वारा अपने अनुभवों को अर्थ प्रदान करता है। शूट्ज ने इस वास्तविकता पर जोर दिया कि समाजशास्त्र का प्रमुख कर्तव्य पहले उन कार्यो को समझना है जो व्यक्तियों ने अपने अनुभवों के आधार पर किए हैं। इसके बाद अनुभवों और उनके अर्थों की व्याख्या करनी चाहिए।

**लाइण्ड (Lyand) ने 'ज्ञान किस लिए?'** (Knowledge for What) में मानवतावादी विचारधारा की विवेचना की है। लेकिन मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के समर्थकों ने इस शीर्षक 'ज्ञान किस लिए?" को संशोधन करके नया शीर्षक प्रदान किया 'ज्ञान किसके लिए?' (Knowledge for whom) मानवतावादी विचारधारा ने इस पर भी बल दिया कि समाजशास्त्रियों को अपने ज्ञान का उपयोग गरीब एवं शोषित वर्ग के लाभ के लिए करना चाहिए। इसके प्रमुख समर्थक उग्र-समाजशास्त्री 'रेडीकल सोशियोलॉजिस्ट्स'

(Radical Sociologist) हैं।

समाजशास्त्र में मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का उदय वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य की आलोचना एवं विरोध के फलस्वरूप हुआ है। मानवतावादी अभिमुखन एवं अभिमुखन परिप्रेक्ष्य के समर्थक परम्परागत समाजशास्त्र के विरोध हैं। विज्ञानवाद के विरोधियों ने ही मानवतावादी अभिमुखन और परिप्रेक्ष्य का विकास किया है। इसके विकास में 'ज्ञान के समाजशास्त्र' का भी योगदान रहा है। इसके समर्थकों की मान्यता है कि ज्ञान का आधार समाज है-जैसा समाज होगा, वैसा ही ज्ञान होगा। विगत वर्षो में जैसा समाज का वातावरण रहा है; उसी ने मानवतावादी अभिमुखन का विकास किया है। विज्ञान के विघटनकारी प्रभावों के कारण नवीन वामपक्ष, हिप्पीवाद, काले लोगों का आन्दोलन, स्त्रियों की समानता का आन्दोलन आदि का जन्म हुआ। इन्हीं घटनाओं के कारण मानवतावादी समाजशास्त्री और विशेष रूप से उग्र समाजशास्त्र का जन्म हुआ है। आज अनेक समकालीन समाजशास्त्री इसके समर्थक हैं।

**मानवतावादी अभिमुखन का विकास (Development of Humanistic Orientation)-** मानवतावादी अभिमुखन एवं विकासकर्ता के प्रमुख समर्थक अल्फ्रेड शूट्ज, हेराल्ड गार्फिन्केल, सी. राईट, मिल्स, गाउल्डनर, टर्नर, सिसोरल, सैक्स आदि हैं: इनमें से कुछ विचार इस प्रकार है:-

**मानवतावादी अभिमुखन के विकासकर्ता**

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अल्फ्रेड शूट्ज | हेराल्ड गार्फिन्केन | एलविन गाउल्डनर | सी. राइट मिल्स | टर्नर | सिसोरल | सैक्स | पीटर-बर्गर |

1. **अल्फ्रेड शूट्ज (Alfred Schutz)-**आस्ट्रिया के दार्शनिक एवं समाजशास्त्री शूट्ज ने घटना क्रियावादी (Phenomenological) उपागम को मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के द्वारा लागू किया। इन्होंने अनेक घटनाओं का अध्ययन किया तथा उसमें यह ज्ञात करने का प्रयास किया कि विशिष्ट सामाजिक स्थितियों का सहभागियों के लिए क्या अर्थ होता है। इन्होंने इस बात पर जोर दिया कि समाजशास्त्री का अभिमुखन किया जाए; जिससे कि वो प्रतिदिन के जीवन को सम्भव बनाने वाले नियमों और मान्यताओं का अध्ययन करे। इनके मानवतावादी परिप्रेक्ष्य को सर्वदा सामाजिक जीवन के अर्थ पर प्रकाश डालना चाहिए। इनके विचारों का प्रभाव अमेरिका के समाजशास्त्र पर विशेष पड़ा। पीटर बर्गर इनसे विशेष प्रभावित हुए तथा इन्होंने मानवतावादी उपागम की रूपरेखा अपनी कृति में भी दी है।

2. **हेराल्ड गार्फिन्केल-**शूट्ज के विचारों का प्रभाव गार्फिन्केल पर पड़ा और उनका मानवतावादी अभिमुखन हुआ। इनके प्रभाव एवं निर्देशन में कार्यरत शोधकर्ताओं ने एक नवीन उपागम-नृजाति पद्धति (Enthnomethodloogy) को विकसित किया। यहाँ से यह अमेरिका और यूरोप के अन्य भागों में फैला। ये लोग अनुसन्धान की गुणात्मक प्रणाली पर जोर देते हैं तथा गणनात्मक प्रणाली का विरोध करते हैं। ये लोग सहभागिक अवलोकन पद्धति को अधिक उपयुक्त मानते हैं। गार्फिन्केल के प्रभाव से विकसित नृजाति-पद्धति नए समाजशास्त्रियों के मध्य अधिक लोकप्रिय हुई जो वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य और अभिमुखन के विरोधी रहे हैं।

4. **एलविन गाउल्डनर-**गाउल्डनर ने 'द कमिंग क्राइसेस ऑफ वेस्टर्न सोशियोलॉजी' में मानवतावादी परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया है। इसमें आपने पहले पारसन्स और अमेरिका के उन समाजशास्त्रियों का

आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है जो वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के समर्थक हैं। इन्होंने संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य की आलोचना की है। इन्होंने मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत समाजशास्त्र को राजनैतिक प्रतिबद्धता से मुक्त एक विषय के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है। इनने 'प्रतिवर्त्तात्मक समाजशास्त्र' (Reflexive Sociology) जो कि मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का एक प्रकार है-की भी स्थापना की है। गाउल्डनर एक वामपंथी विचारक माने जाते हैं, जिन्होंने मानवतावादी परिप्रेक्ष्य और अभिमुखन का विकास किया है। उनके साहित्य ने अनेक समाजशास्त्रियों का मानवतावादी अभिमुखन किया है।

5. **सी. राईट मिल्स**-मिल्स ने मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का समर्थन किया है। उनका बहुजन समाज (Mass Socieity) का विचार सामाजिक मनोविज्ञान की मान्यताओं पर आधारित है। उनके अनुसार व्यक्ति के बहुजन समाज का एक भाग होने के कारण उसका सामाजिक परिवर्तन होगा और व्यक्ति की मन:स्थिति भी उसके अनुसार बदलेगी। मिल्स अन्धाधुन्ध आनुभविक तथ्यों के संकलन और अनुसन्धान के कट्टर विरोधी हैं। उनके अनुसार पिछले 50 वर्षों में बहुत अधिक आँकड़े एकत्र किए गए। लेकिन उनके निष्कर्ष परस्पर विरोधी हैं। मिल्स के अनुसार आँकड़े दिशा प्रदान करने में असमर्थ। आप वृहद् सिद्धान्तों के विरोधी हैं। उन्होंने वृहद् सिद्धान्तों-प्रकार्यात्मक सिद्धान्त एवं पारसन्स के क्रिया सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। मिल्स अतार्किक एवं असंगत अवधारणाओं के घोर विरोध हैं। उन्होंने सर्वदा पद्धति-शास्त्रीय आडम्बर का विरोध किया। इन्होंने बुद्धिजीवियों के उत्तरदायित्व की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इनका सुझाव था कि बुद्धिजीवियों को सत्य का वर्णन इस आशा से करना चाहिए कि कैसे भी, कोई-न-कोई, कभी-न-कभी तो सत्य की ओर ध्यान देगा। इनके द्वारा किया गया लैटिन अमेरिका के देशों का सामाजिक वैज्ञानिक अध्ययन 'दा सोशियोलॉजिकल इमेजिनेशंस' 1970 विश्व विख्यात है। यह अध्ययन 'प्रोजेक्ट केमलोट' के नाम से विश्व विख्यात है। ये द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के कुछ ही समाजशास्त्रियों में से एक हैं जिनको समाजशास्त्र के बाहर भी जनसामान्य लोग जानते हैं। इनका मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के विकास और अभिमुखन करने में विशेष योगदान रहा है।

**स्व-प्रगति की जाँच करें :**

1. वैज्ञानिक अभिमुखन के सम्बन्ध में हर्बर्ट स्पेन्सर के विचार प्रस्तुत करें।
2. वैज्ञानिक अभिमुखन के सम्बन्ध में विलफ्रेडो परेटो के विचार प्रस्तुत करें।
3. मानवतावादी अभिमुखन का अर्थ स्पष्ट करें।
4. मानवतावादी अभिमुखन की प्रमुख विशेषताएँ लिखें।

**निष्कर्ष (Conclusion)**-उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र के दोनों परिप्रेक्ष्य-वैज्ञानिक और मानवतावादी-का उद्देश्य समाज को गहनता से समझना है। दोनों ही सामाजिक यथार्थता को जानना चाहते हैं। दोनों ही परिप्रेक्ष्य और अभिमुखन यथार्थ के अलग-अलग वैज्ञानिक और मानविकी को महत्त्व देते हैं।

गुडे एवं हॉट ने सरल भाषा में इस विवाद को समाप्त करने का प्रयास किया है। इन्होंने अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि भौतिक विज्ञानों के मूल्य प्रभावशाली होते हैं। सामाजिक विज्ञानों में तो अधि कतर अध्ययन सामग्री मूल्य-प्रधान होती है, वहाँ मूल्यों का होना अवश्यम्भावी है। ये लिखते हैं कि वैज्ञानिक जब भी किसी विषय का अध्ययन करता है तो उसके सम्मुख कुछ प्रश्न आते हैं, जैसे-

(1) इस अध्ययन का वैज्ञानिक महत्त्व क्या है?

(2) इस अध्ययन की व्यावहारिक उपयोगिता क्या है?

जब वैज्ञानिक दूसरे प्रश्न का उत्तर देता है तो मूल्य का प्रवेश हो जाता है अर्थात् मानवतावादी अभिमुखन ही इस प्रश्न का उपयुक्त उत्तर दे सकता है। गुडे एवं हॉट ने लिखा है कि अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें विज्ञान और मूल्य परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। यह धारणा बिल्कुल त्रुटिपूर्ण है कि विज्ञान और मूल्यों के

जगत बिल्कुल भिन्न हैं। विज्ञान ऐसी मान्यताओं पर आधारित है जो सिद्ध नहीं किए जा सकते हैं और वह आवश्यक रूप से मूल्यों पर आधारित निर्णय है।

विज्ञान ने स्वयं वह आचार-संहिता विकसित की है जो इस मान्यता पर आधारित है कि 'ज्ञान अज्ञान से श्रेष्ठ है'। (Knowledge is superior to Ignorance)। इन्होंने बार-बार स्पष्ट एवं सिद्ध किया है कि विज्ञान और मानवतावादी परिप्रेक्ष्य और अभिमुखन परस्पर एक-दूसरे से गुम्फित है। इन्होंने उदाहरण दिया है कि समस्या का मूल्यांकन, समीक्षा और चयन तथा विज्ञान का एक व्यवसाय के रूप में चयन की प्रेरणा-मूल्यों से सम्बन्धित है। ये विज्ञान के पक्षों से सम्बन्धित मूल्य हैं। इनमें पक्षपात आ सकता है; जिसके प्रति जागरूक रहना चाहिए।

इसी प्रकार से विज्ञान उन समस्याओं का अध्ययन करता है जिसकी विषय वस्तु मूल्यांकनात्मक है। यहाँ तक कि मूल्यों का अध्ययन भी विज्ञान करता है।

## सारंश

वैज्ञानिक भी मूल्यों में सहभागिक होता है हालाँकि समाजशास्त्र के एक विज्ञान के रूप में विकास को वह प्रभावित नहीं करता है। मूल्य और विज्ञान का परस्पर सम्बन्ध विज्ञान को परिष्कृत तथा सुधार करने में सहायता करता है तथा अन्य मूल्यों को और अधिक सूक्ष्मता से देखने में सहायता करता है। अब समय आ गया है कि वैज्ञानिक और मानवतावादी परिप्रेक्ष्य और अभिमुखन के विवाद को हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त कर देना चाहिए। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों के परस्पर सम्बन्धों को समाजशास्त्रीय, उपागमों, सिद्धान्तों एवं अध्ययनों में भी स्पष्टतः देखा जा सकता है।

## स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. **हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer)**-स्पेन्सर ने कॉम्ट के उत्तराधिकारी के रूप में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अभिमुखन की विचाराधारा को आगे बढ़ाया। उन्होंने अभिमुखन को स्पष्ट करते हुये लिखा, संसार में वस्तुएँ ज्ञातव्य और अज्ञातव्य दो प्रकार की होती है। ज्ञातव्य वस्तुएँ आनुभाविक तथ्य होते हैं, जिन्हें व्यक्ति देख सकता है एवं समझ सकता है। अज्ञातव्य वस्तुएँ मानवीय ज्ञान, अनुभव एवं समझ की सीमा से बाहर होती है; जिनकी व्याख्या एवं प्रभाव धर्म के आधार पर देखे जाते हैं। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक अभिमुखन और वैज्ञानिक अभिमुखन के अन्तर को स्पष्ट किया।

   स्पेन्सर ने समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक अभिमुखन में प्राणिशास्त्र के वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर जोर दिया। उन्होंने समाज की व्याख्या एवं विश्लेषण सावयवी उद्विकास के आधार पर करने का सुझाव दिया। आपने स्पष्ट भी किया कि समाज और सावयव में अनेक समानताएँ हैं। इन दोनों के उद्विकास की प्रक्रिया के चरण भी सरल से जटिल तथा न्यून विभेदीकरण से अधिकतम विभेदीकरण की ओर देखे जा सकते हैं। उन्होंने समाज एवं धर्म के उद्विकासीय सिद्धान्त प्रतिपादित करके समाजशास्त्रीय अध्ययनों को वैज्ञानिक अभिमुखन का विकास करने में उल्लेखनीय योगदान दिया। स्पेन्सर ने प्राकृतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों, विशेष रूप से जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों एवं विचारों को समाज एवं इसके पक्षों के अध्ययनों पर उपमा के रूप में लागू करके समाजशास्त्र के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का विकास किया। इस प्रकार से आपने समाजशास्त्रियों का वैज्ञानिक अभिमुखन किया।

2. **विलफ्रेडो परेटो**-ये समाजशास्त्र के दृष्टिकोण एवं अध्ययन पद्धति को वैज्ञानिक दिशा प्रदान करना चाहते थे। उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानों के समान समाज के अध्ययन में

वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया जाना चाहिए। इन्होंने समाजशास्त्र में तार्किक-प्रयोगात्मक पद्धति का अनुसरण करने के लिए निम्न स्तरों का सुझाव दिया-(1) निरीक्षण, (2) तथ्ययुक्त या वैषयिक अनुभव और (3) तर्कसंगत निष्कर्ष।

परेटो ने वैज्ञानिक अभिमुखन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में लिखा है कि समाजशास्त्री सामाजिक घटनाओं का अध्ययन अनुभवों के आधार पर करे। सामाजिक घटनाओं को वास्तविक निरीक्षण एवं प्रयोग की कसौटी पर जाँच करे, इसके बाद विभिन्न घटनाओं के समान तत्त्वों की खोज करे, समानताओं के आधार पर समाजशास्त्रीय सामान्यीकरण करे अथवा नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादित करे। इस प्रकार से परेटो ने समाजशास्त्रीय पद्धति एवं परिप्रेक्ष्य की नींव को वास्तविक, यथार्थ एवं वैज्ञानिक बनाने एवं वैज्ञानिक अभिमुखन के लिए प्रयास किया।

3. **मानवतावादी अभिमुखन का अर्थ (Meaning of Humanisitic Orientation)-** मानवतावादी अभिमुखन या पूर्व प्रशिक्षण वह है जो अध्ययनकर्ता को समाज का मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के अनुसार अध्ययन करने के लिए तैयार और सक्षम करता है। इस अभिमुखन के द्वारा समाजशास्त्री मानव-हितों का ध्यान में रखकर अध्ययन करने में समर्थ होता है। उसे सिखाया जाता है कि वह अपने अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य मानव हितों का अध्ययन करना ही समझे। मानव जाति के कल्याण के लिए अध्ययन करना ही मानवतावादी अभिमुखन है।

   मानवतावादी अभिमुखन द्वारा समाजशास्त्री में मानव-जाति के कल्याण के लिए एक दार्शनिक अभिनति और उत्तरदायित्व की भावना पैदा की जाती हैं। उसमें मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का विकास किया जाता है। मानवतावादी अभिमुखन द्वारा अध्ययनकर्ता को सिखाया जाता है कि वह अपना दृष्टिकोण और असमानता के कारणों की खोज करना अपना प्रमुख लक्ष्य रखे। उसे असह्य, असमर्थ, दीन-हीन मनुष्यों की परिस्थितियों का अध्ययन करना सिखाया जाता है। कल्याणकारी योजनाएँ तैयार करना सिखाया जाता है।

4. **मानवतावादी अभिमुखन की विशेषताएं (Characterisitics of Human Oreintation)-** इस अभिमुखन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है:-(1) इस अभिमुखन का उद्देश्य मूल्यबद्ध अध्ययन करना होता है। (2) यह अभिमुखन 'क्या होना चाहिए?' और 'क्या नहीं होना चाहिए?' को प्राथमिकता देता है। (3) यह मानव से सम्बन्धित सभी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक आदि समस्याओं के प्रति चिन्तित एवं वचनबद्ध होता है। (4) इस अभिमुखन का उद्देश्य ज्ञान को मात्र-प्राप्ति के लिए अर्जित करना नहीं होता है बल्कि मानव-कल्याण के उपयोग के लिए प्राप्त करना होता है। (5) यह अभिमुखन अध्ययनकर्ता को राजनीतिक रूप से मानवीय वामपंथी विचारधारा का समर्थक बनाता है, और (6) यह अध्ययनकर्ता को अवध रणाओं, भाषा, अध्ययन-पद्धति आदि की सरलता को प्रोत्साहित करना सिखाता है।

## अभ्यास प्रश्न

1. समाजशास्त्रीय अभिमुखन से क्या तात्पर्य है? इसके प्रमुख प्रकारों का वर्णन करें।
2. वैशानिक अभिमुखन का अर्थ स्पष्ट करें।
3. मानवतावादी अभिमुखन क्या है? इसके विकास में सहभागी लोगों का वर्णन करें। इस अभिमुखन की विशेषताएँ स्पष्ट करें।

## ekMîy&3

# मौलिक अवधारणाएँ (Basic Concepts)

## समाजशास्त्र की भाषा (The Language of Sociology)

**इस अध्याय के अन्तर्गत :**

- समाज का सामान्य अर्थ साथ-साथ समाजशास्त्र में समाज का अर्थ
- समाजशास्त्र की परिभाषा
- समाज की विशेषताएँ
- समाज की अन्योन्याश्रितता
- समाज और एक समाज में अन्तर

**अध्याय के उद्देश्य :**

- इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :
- समाज का सामान्य अर्थ; साथ-साथ समाजशास्त्र में समाज का अर्थ
- समाजशास्त्र की परिभाषा और इसकी विशेषताएँ
- समाज की अन्योन्याश्रितता समाज और एक समाज में अन्तर

## bdkbZ&7 lekt dk vFkZ] ifjHkk"kk] fo'k"krk,¡] ,d lekt] lekt vkSj ,d lekt esa vUrj] lg;ksx vkSj la?k"kZ

समाजशास्त्र की भाषा को समझने हेतु सर्वप्रथम विभिन्न वैज्ञानिकों के विचारों और ज्ञान को समझना आवश्यक है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब सभी वैज्ञानिक उपयोग की जाने वाली भाषा, विशेष रूप से शब्दावली का प्रयोग एक सुनिश्चित स्पष्ट और सीमित अर्थ में करें। इसके लिए आवश्यक है कि वे अवधारणाएँ जो सामान्य बोलचाल में काम में ली जाती हैं उनके अर्थ को सम्बन्धित विज्ञान के सन्दर्भ में समझें। समाजशास्त्र की पुस्तकों को पढ़ते समय ऐसे अनेक शब्दों को हम पाएँगे जो सामान्य बोलचाल के हैं; जैसे-''समाज', ''समूह', ''समुदाय', ''परिवार', ''विवाह' आदि। समाजशास्त्र विषय को समझने के लिए आवश्यक है कि हमें इस विषय से सम्बन्धित मूल अवधारणाओं का पूर्ण ज्ञान हो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए समाजशास्त्र की कुछ प्रमुख मौलिक अवधारणाऐं-समाज, सामाजिक संरचना समुदाय, संस्कृति, प्रस्थिति, भूमिका और सामाजिक समूह आदि का क्रम से अग्रलिखित अध्यायों में अर्थ, परिभाषा, विशेषताएँ आदि की विवेचना प्रस्तुत है।

### समाज (Society)

**समाज का सामान्य अर्थ (General Meaning of Society)**-''समाज' शब्द का प्रयोग साधारण बोलचाल की भाषा में बहुत अधिक किया जाता है। सामान्य बोलचाल तथा समाजशास्त्र में इसका अर्थ भिन्न-भिन्न है। 'समाज' शब्द का प्रयोग साधारणतया व्यक्तियों के समूह के रूपों में किया जाता है। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, हिन्दू समाज, जैन समाज, महिला समाज आदि रूप में भी इस शब्द का प्रयोग होता है। 'समाज' शब्द का प्रयोग विभिन्न सामाजिक विज्ञानों, सामाजिक, मानवशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान आदि में अलग-अलग अर्थों में किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्र में जनजातियों को आदिम समाज से सम्बोधित किया गया है। राजनीति विज्ञान में समाज से तात्पर्य व्यक्तियों के समूह से हैं तो अर्थशास्त्र में समाज का अर्थ व्यक्तियों का वह समूह है जिसमें परस्पर आर्थिक प्रक्रियाएँ होती है। एक शब्द के अनेक अर्थ होने के कारण सामाजिक विज्ञानों में मूल अवधारणाओं का विशेष अध्ययन किया जाता है। चूँकि समाजशास्त्र समाज का ही विज्ञान है इसलिये इसके अर्थ का ज्ञान होना आवश्यक है।

### समाजशास्त्र में समाज का अर्थ (Meaning of Society in Sociology)

1. समाज (Society) (अमूर्त रूप में)।
2. एक समाज (A Society) (मूर्त रूप में)।

पहले हम 'समाज' अवधारणा की विवेचना करेंगे तथा बाद में ''एक समाज' अवधारणा का विवेचन करेंगे। अन्त में दोनों अवधारणाओं की तुलना करेंगे।

**समाज का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Society)**-समाज की अवधारणा की परिभाषा अनेक समाजशास्त्रियों ने दी है। इनमें प्रमुख समाजशास्त्री मैकाइवर और पेज, पारसन्स, ट्यूटर और कूले हैं।

1. **कूले (Cooley)** के अनुसार, ''समाज स्वरूपों या प्रतिक्रियाओं की जटिलता है ......।''
2. **यूटर (Reuter)** ने लिखा है कि ''समाज एक ''अमूर्त' शब्द है जो समूह के सदस्यों में तथा उनके बीच पारस्परिक सम्बन्धों की जटिलता का बोध कराता है।
3. **पारसन्स (Parsons)** का कहना है, ''समाज को उन सम्पूर्ण मानव-सम्बन्धों की जटिलता के

रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो यथार्थ अथवा प्रतीकात्मक साधन-साध्य की क्रिया से उत्पन्न होते हैं।

4. **मैकाइवर और पेज (MacIver ad Page)** ने समाज की परिभाषा में उसे एक व्यवस्था बताया है। उन विशेषताओं का भी उल्लेख किया है जो इस व्यवस्था का निर्माण करती हैं। इन्होंने निम्नलिखित परिभाषा दी है

'समाज रीतियों तथा कार्य प्रणालियों की, सत्ता तथा पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहों तथा विभाजनों की, मानव व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतन्त्रताओं की एक व्यवस्था है।'

इनके अनुसार रीतियाँ, कार्य प्रणालियाँ आदि का पारस्परिक सहयोग, समूह, विभाजन, नियन्त्रण और स्वतंत्रताएँ समाज की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इन्होंने कहा कि समाज कोई वस्तु नहीं है, यह जड़ नहीं है। समाज कभी स्थिर नहीं रहता। इन्होंने परिभाषा में आगे लिखा है, "इस सदैव परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और यह हमेशा बदलता रहता है।

उपर्युक्त समाजशास्त्रियों-कूले, यूटर, पारसन्स, मैकाइवर और पेज की समाज की परिभाषाओं के आध र पर यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज एक अमूर्त यथार्थ अथवा प्रतीकात्मक साधन-साध्य क्रिया से उत्पन्न सम्पूर्ण मानव सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था है जो रीतियों, कार्य प्रणालियों, अधिकार, पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहों, विभाजनों, नियंत्रणों तथा स्वतन्त्रताओं से निर्मित होती है।

**समाज की विशेषताएँ (Characteristics of Society)**-मैकाइवर और पेज की परिभाषा के अनुसार समाज की निम्नलिखित विशेषताएँ उभर कर सामने आती हैं-

(1) **रीतियाँ (Usages)**-प्रत्येक समाज में मान्यता प्राप्त रीतियाँ होती हैं। रीतियों के अनुसार प्रत्येक सदस्य अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए क्रिया करते हैं। इनके द्वारा ही समाज में व्यवस्था में निरन्तरता बनी रहती है। व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन्हीं रीतियों के अनुसार सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है। पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन, पिता-पुत्र, मित्र, पड़ोसी आदि रीतियों के अनुसार परस्पर अन्तःक्रिया करते हैं और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जैसे-जैसे समाज का रूप जटिल होता जाता है, रीतियाँ भी स्पष्ट और सुनिश्चित होती जाती हैं। रीतियों का उल्लंघन करने पर दण्ड भी दिया जाता है।

(2) **कार्य-प्रणालियाँ (Procedures)**-मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति समाज द्वारा निश्चित विधियों से करता है जिसे समाजशास्त्री संस्थागत साधन कहते हैं। मैकाइवर और पेज ने इन्हीं को कार्य-प्रणाली कहा है। समाज जटिल व्यवस्था है जिसमें मानव कार्य करने की प्रणालियों (कार्य-प्रणालियों) के अनुसार अन्य व्यक्तियों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करके आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मैकाइवर और पेज कहते हैं कि व्यक्ति समाज में रह कर अपनी आवश्यकताओं को सरलता से पूर्ण करता है जिसकी व्यवस्था निश्चित कार्य-प्रणालियों द्वारा की जाती है। ये कार्य-प्रणालियाँ विभिन्न प्रकार की हो सकती है। लेकिन कोई भी समाज कार्य-प्रणालियों के बिना अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकता। कार्य-प्रणालियाँ समाज को संगठित, व्यवस्थित, नियंत्रित और सन्तुलित रखती है। अगर समाज के सदस्य अपने मनमाने ढंग से उद्देश्यों की पूर्ति करेंगे तो समाज असन्तुलन तथा अन्त में विघटन की स्थिति में पहुँच जाएगा।

(3) **सत्ता (Authority)**-मैकाइवर और पेज ने कार्य-प्रणालियों के बाद सत्ता को रखा है; उनका तात्पर्य यह है कि समाज के सदस्यों द्वारा अगर कार्य-प्रणालियों का उल्लंघन किया जाता है तो उन्हें रोकने

तथा दण्ड देने के लिए सत्ता का होना आवश्यक है। सभी प्रकार के सामाजिक संगठनों में सत्ता होती है जो व्यक्तियों की क्रियाओं को नियन्त्रित रखती है। परिवार में यह सत्ता परिवार के सबसे बड़े पुरुष के पास होती है, वार्ड में वार्ड पंच, ग्राम में ग्राम पंच, जाति में जाति पंच, पंचायत में सरपंच, जिले में जिला अधिकारी तथा राष्ट्र के स्तर पर राष्ट्रपति के पास सर्वोच्च सत्ता होती है। सत्ता सभी समाजों में होती है। सामाजिक व्यवस्था के लिए सत्ता का होना आवश्यक है।

(4) **पारस्परिक सहायता (Mutual Aid)-**समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। यह जाल तभी बनता है जब अनेक सदस्य परस्पर एक-दूसरे की मदद करते हैं। व्यक्ति परस्पर आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे की सहायता करते हैं। अगर वे एक-दूसरे की सहायता नही करेंगे तो अन्तःक्रिया नहीं होगी। सामाजिक सम्बन्ध और सामाजिक व्यवहार स्थापित नहीं होंगे। समाज का निर्माण भी नहीं होगा। इसलिए समाज की मौलिक विशेषता पारस्परिक सहायता और सहयोग हैं, इसके बिना समाज का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है।

(5) **समूह और विभाजन (Gropu and Division)-**सामाजिक संरचनाओं में अनेक छोटे-बड़े समूह होते हैं जिनको अनेक आधार पर देख सकते हैं। सामाजिक संरचना का विभाजन खण्डों, श्रेणियों और वर्गों में किया जाता है। प्रत्येक वर्ग में अनेक समूह होते हैं। इनका सबसे छोटा आकार एकांकी परिवार (समूह) है। अनेक एकाकी परिवार मिलकर परम्परागत संयुक्त परिवान बन जाते हैं। ऐसे कई संयुक्त परिवार मिल कर बड़ा समूह, वंश-समूह फिर गोत्र-समूह, उप-जाति तथा जाति के बड़े समूह के आकार बन जाते हैं। इनमें अन्तःक्रिया और प्रतिक्रियाएँ समाज का निर्माण करती हैं। इसलिये यह समूह और विभाजन की विशेषता समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

(6) **मानव व्यवहार का नियन्त्रण (Control of Human Behaviour)-**समाज को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए सामाजिक नियंत्रण एक संतुलन-शक्ति की भूमिका निभाता है। अगर व्यवहार पर नियन्त्रण नहीं रखा जाए तो प्रत्येक सदस्य मनमाने तरीके से व्यवहार करेगा। सारे समाज में अनियमितता और अव्यवस्था फैल जाएगी जो समाज के अस्तित्व को ही मिटा देगी। समाज में सभी सदस्य एक-दूसरे से व्यवहारों की अपेक्षा रखते हैं। सभी पूर्ण रूप से अपेक्षित व्यवहार नहीं कर पाते। वास्तविक व्यवहार और अपेक्षित व्यवहार का अन्तर कम होना चाहिए तब तो समाज बना रह सकता है। अगर यह अन्तर अधिक होगा तो सामाजिक सम्बन्ध विघटित हो जाएँगे। इस अन्तर को कम करने के लिए आवश्यक है कि व्यवस्था मानव के व्यवहारों पर नियंत्रण रखे। जनरीति, प्रथा, परम्परा, जनमत, कानून, धर्म, शिक्षा, नैतिकता आदि मानव व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। इसके अभाव में समाज का अस्तित्व अधिक समय तक नहीं बना रह सकता।

(7) **स्वतन्त्रता (Liberty)-**मैकाइवर और पेज के अनुसार समाज में नियन्त्रण के साथ-साथ सदस्यों के व्यवहारों में स्वतंत्रता का प्रावधान भी होता है। व्यक्ति के व्यवहार को उस सीमा तक नियंत्रित किया जाता है जिस सीमा तक वह अन्य व्यक्तियों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचा सकता हो। व्यक्ति अपनी सीमा में स्वतन्त्र है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए स्वतन्त्र है। सामाजिक व्यवस्था में-स्वतन्त्रता तथा नियन्त्रण दोनों एक सीमा तक ही होते हैं। अगर अधिक स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाएगी तो उससे भी समाज में अव्यवस्था फैल जाएगी। इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक नियन्त्रण भी अधिक समय तक सदस्यों पर नहीं रखा जा सकता है, वह भी समाज के संतुलन, संगठन और निरन्तरता के लिए हानिकारक होता है। समाज के लिए स्वतन्त्रता और नियन्त्रण दोनों ही एक सीमा तक महत्वपूर्ण है।

(1) **सामाजिक सम्बन्धों की मनौवैज्ञानिक स्थिति (The psychological condition of social relationship)**-मैकाइवर और पेज ने सामाजिक सम्बन्ध और भौतिक सम्बन्ध को उदाहरण देकर समझाया है। मेज पर टंकण यंत्र रखा है। इन दोनों को एक-दूसरे के अस्तित्व का ज्ञान नहीं है। दो या अधिक मनुष्य जब एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो उन्हें परस्पर एक-दूसरे के अस्तित्व का ज्ञान होता है। एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं ओर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, उससे सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं जिससे समाज का अस्तित्व सम्भव हो पाता है। इसको मैकाइवर और पेज ने सामाजिक सम्बन्धों का मनौवैज्ञानिक लक्षण बताया है, जो समाज का निर्माण करते हैं।

(2) **सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार (The range of social relationship)**-समाज जितना छोटा, सरल और सीमित होगा उसके सदस्यों के परस्पर सम्बन्ध के प्रकार भी सीमित तथा कम होंगे। जैसे-जैसे समाज जटिल होता जाएगा, वैसे-वैसे सामाजिक सम्बन्धों के प्रकार भी बढ़ते जाएँगे। ग्रामीण समाज में सम्बन्ध कम जटिल तथा सीमित होते हैं। महानगरीय समाज में व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध अनेक लोगों से होते हैं। सम्बन्धों के प्रकार असंख्य हो जाते हैं। सरल और छोटे समाज की तुलना में बड़े और जटिल समाज में सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार व्यापक होता है।

(3) **समाज मनुष्य तक ही सीमित नहीं है (Society not confined to man)**-मैकाइवर और पेज का कथन है कि समाज तो अन्य जीवों में भी पाये जाते हैं। अन्य जीव-चींटी, मधुमक्खी, कीड़े-मकोड़े, घोड़े, कुत्ते आदि में उल्लेखनीय सामाजिक संगठन मिलते हैं। परन्तु इनके पास संस्कृति नहीं है। डेविस का कहना है कि मानवसमाज के पास संस्कृति है। अन्य जीवों के समाजों के पास संस्कृति नहीं है। अन्य जीव जन्म से सामाजिक प्राणी हैं, मानव जन्म के बाद सामाजिकता को सीखता है। समाजशास्त्र केवल मानव समाज का अध्ययन करता है।

(4) **समाज में समानता और भेद दोनों ही सन्निहित हैं (Society involves both likeness and difference)**-जब मानव आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरों के साथ अन्तःक्रिया करता है तो उसका आधार परस्पर-समानता और भिन्नता दोनों होती है। अनेक बातों में उनमें समानता होती है, जैसे-उनके लक्ष्य समान हैं। भिन्नता भी उनमें पाई जाती है, जैसे-साधनों में भिन्नता का होना। शिक्षक और छात्र परस्पर क्रिया करते हैं। उनमें समानता और भिन्नता दोनों होती हैं। समानता इस आधार पर है कि एक ज्ञान देता है दूसरा ज्ञान लेता है। आयु और पद के आधार पर भिन्नता मिलती है। परिवार में पति-पत्नी को देखें तो उनमें भिन्नता लिंग भेद के आधार पर है। दोनों परिवार को बनाए रखना चाहते हैं, यह समानता है। दोनों का लक्ष्य बच्चों का पालन-पोषण करना है। उनकी भूमिका, पद, कर्त्तव्य, अधिकार के आधार पर अनेक भिन्नताएँ हैं। अगर समानता हो और भिन्नता न हो तो वह चीटिंयों जैसा समाज बन जाएगा। मानव समाज में दोनों लक्षण-समानता और भिन्नता होते हैं।

(5) **मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के रूप में (Man as a social animal)**-मैकाइवर और पेज ने लिखा है कि है कि मनुष्य अपनी सुरक्षा, सुविधा, पालन-पोषण, शिक्षा, साज-सज्जा, आवास और समाज द्वारा प्रदत्त अन्य अनेक निश्चित सेवाओं का उपयोग करता है। अरस्तू ने इन बातों को "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' कहकर व्यक्त किया है। अनेक विद्वानों ने लिखा है कि अकेले रहने में मनुष्य की भलाई नहीं है। दण्डों में एकान्त कारावास सबसे कठोर दण्ड

है; क्योंकि यह सबसे अधिक असहनीय होता है। कोई भी व्यक्ति समाज की आवश्यकता से स्वतंत्र नहीं है। व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक समाज की आवश्यकता

### समाज की कुछ अन्य विशेषताएँ (Some Other Characteristics of Society)

**मैकाइवर** और **पेज** ने समाज की अनेक विशेषताओं का वर्णन किया है जिन्हें उपर्युक्त पृष्ठों में देख चुके हैं। अब हम समाज की कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताओं की विवेचना करेंगे जो निम्नलिखित है-

**(1)** **अमूर्तता (Abstractness)**-राइट ने लिखा है, "समाज व्यक्तियों का समूह नहीं है। यह समूह के सदस्यों के बीच स्थापित सम्बन्धों की एक व्यवस्था है।" इस व्यवस्था का अनुभव कर सकते हैं। सामाजिक सम्बन्धों का कोई आकार नहीं होता है। इसीलिए सभी ने कहा है कि समाज अमूर्त है। मैकाइवर और पेज ने कहा कि समाज सामाजिक सम्बन्धों का परिवर्तनशील रूप है, व्यक्तियों की पारस्परिक अनुभूति का परिणाम है। उसे उन्होंने सामाजिक सम्बन्धों की मनोवैज्ञानिक स्थिति कहा है। मानवीय व्यवस्था, सामाजिक सम्बन्ध, अन्तःक्रिया और प्रक्रियाएँ आदि अर्मूत हैं जो समाज का निर्माण करती है। ग्रूटर का कथन है कि समाज एक वस्तु नहीं है बल्कि सम्बन्ध स्थापित करने की एक प्रक्रिया है। इन उपर्युक्त कथनों, विशेषताओं तथा लक्षणों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि समाज अमूर्त है।

**(2)** **पारस्परिक जागरूकता (Mutual Awareness)**-दो या अधिक व्यक्तियों में अन्तःक्रिया के लिए आवश्यक है कि उनको एक-दूसरे की प्रस्थिति का पूरा ज्ञान चाहिए। दूसरे लोग भी उनकी प्रस्थिति से अवगत होने चाहिए। लोग एक-दूसरे की स्थिति तथा भूमिका से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिचित होने चाहिए। अगर उनमें एक-दूसरे के प्रति जागरूकता नहीं होगी तो अन्तःक्रिया भी नहीं हो सकती। यही अन्तः क्रिया समाज का निर्माण करती है। ब्लूमर ने कहा है कि सामाजिक अन्तःक्रिया में हिस्सा लेने वाले व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की निरन्तर क्रियाओं की दिशा को समझकर स्वयं की अन्तःक्रिया की दिशा निर्धारित करते हैं। मैकाइवर और पेज ने मेज और टाइप राइटर का उदाहरण दिया था कि उनमें परस्पर एक-दूसरे की उपस्थिति के प्रति जागरूकता नहीं है। लेकिन दो या अधिक व्यक्ति जब एक-दूसरे की उपस्थिति, प्रस्थिति तथा भूमिका के प्रति जागरूक होते हैं तब उनमें अन्तःक्रिया होती है। यही अन्तः क्रियाएँ आगे चलकर सम्बन्धों का निर्माण करती हैं। परिवार में पिता-पुत्र, भाई-बहन आदि इसके उदाहरण हैं। पिता जानता है कि वह उसका पुत्र है। पुत्र भी जानता है कि वह उसका पिता हैं। दूसरे लोग भी जानते हैं कि वे पिता-पुत्र हैं। यही जागरूकता व सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था समाज का निर्माण करती है।

**(3)** **सहयोग और संघर्ष (Co-operation and Conflict)**-मैकाइवर और पेज का कथन है, "समाज सहयोग है जो संघर्ष से गुजरता है।" इस कथन से यह सामने आता है कि लोग परस्पर एक-दूसरे को सहयोग करते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। एक-दूसरे के प्रति" हम' की भावना रखते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं हैं कि लोग परस्पर एक-दूसरे से संघर्ष नहीं करते। जो लोग खुशहाल हैं, जिनके पास सुख-सुविधाएँ हैं उनसे वे लोग संघर्ष करते हैं जिनके पास इन सब का अभाव है। मार्क्स का सिद्धान्त है कि समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। चार्ल्स कूले और मैकाइवर तथा पेज का कहना है कि समाज में-सहयोग और

संघर्ष-दोनों होते हैं, इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। समाजिक प्रक्रिया के दोनों सहयोग और संघर्ष की अब हम अलग-अलग व्याख्या करेंगे।

समाज का संगठन, संतुलन, एकता, प्रगति, परिवर्तन आदि इस तथ्य पर निर्भर करते हैं कि सहयोग और संघर्ष की मात्रा समाज में कितनी है? सहयोग अधिक होगा तो समाज में खुशहाली अधिक होगी। संघर्ष होगा तो समाज का संतुलन बिगड़ जाएगा जो बाद में समाज को असंतुलन की ओर ले जा सकता है। सहयोग और संतुलन-दोनों ही समाज की महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

(4) **अन्योन्याश्रितता (Inter-dependence)**-अन्योन्याश्रितता का शाब्दिक अर्थ एक-दूसरे पर (परस्पर) निर्भर रहना है। समाज की सम्पूर्ण विशेषताओं में अन्योन्याश्रितता का अपना विशेष महत्त्व है। समाज की उत्पत्ति और विकास, संतुलन और संगठन तथा निरन्तरता और परिवर्तन आदि समाज के सदस्यों की अन्योन्याश्रितता पर निर्भर करते हैं। समाज के संगठन की प्रकृति तथा अन्योन्याश्रितता का परस्पर सीधा सम्बन्ध है।

व्यक्ति-व्यक्ति पर, व्यक्ति समूह पर, समूह समाज पर तथा समाज समूह पर विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए श्रम का विभाजन जितना न्यून होगा, समाज की जनसंख्या जितनी न्यून होगी, पारस्परिक सम्बन्ध जितने कम होंगें, भौगोलिक क्षेत्र जितना छोटा होगा उस समाज के सदस्यों में पारस्परिक निर्भरता उतनी ही कम होगी। अर्थात् समाज का आकार जितना छोटा होगा, उस समाज के सदस्यों में अन्योन्याश्रितता उतनी ही कम होगी। दूसरी ओर समाज की जनसंख्या जितनी अधिक होगी, पारस्परिक सम्बन्ध जितने ज्यादा होंगे, श्रम का विभाजन तथा विशेषीकरण जितना अधिक होगा, उस समाज के सदस्यों में अन्योन्याश्रितता उतनी ही अधिक होगी।

## "एक समाज" (A Society)

'समाज' शब्द का प्रयोग समाजशास्त्र में दो रूपों में किया जाता है-(1) समाज तथा (2) एक समाज।"समाज' शब्द के रूप में इसके प्रयोग का अध्ययन हम कर चुके हैं।"एक समाज' में समाजशास्त्र में जो अर्थ लगाया जाता है उसकी विवेचना प्रस्तुत हैं।

जब 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के किसी समूह, संगठन, समिति आदि के रूप में किया जाता है तब उसका अर्थ समाजशास्त्र में किसी विशेष "एक समाज' से होता है। जैसे-आदिम समाज, ब्रहम समाज, जैन समाज आदि। कुछ समाजशास्त्रियों, जैसे-यूटर, जिन्सबर्ग, मेन्जर, फ्रीमेन, आदि ने इसी रूप में समाज की परिभाषा दी है। इन समाजशास्त्रियों की परिभाषा का अध्ययन करके "एक समाज' अवध रणा को समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया जाएगा।

1. **मेन्जर** के अनुसार "एक समाज' की परिभाषा, "एक समाज" व्यक्तियों का एक ऐसा समूह समझा जाता है जिसमें सामान्य क्रियाओं के कुछ प्रकारों में सचेतन भागिता होती है"।
2. **यूटर** के अनुसार "एक समाज, समाज में भिन्न एक ऐसा संगठन है जिसमें लोग अपना जीवन व्यतीत करते हैं।'
3. **जिन्सबर्ग** के अनुसार, "एक समाज' व्यक्तियों का वह संग्रह है जो किन्हीं सम्बन्धों अथवा व्यवहारों के तरीकों से सम्बन्धित हैं जो उनकों दूसरों से पृथक् करते हैं, जो उनके सम्बन्धों में नहीं आते हैं या जो उनसे व्यवहार में भिन्न होते हैं।"

जिन्सबर्ग ने एक समाज' को "समाज' से अलग बताया है। इनका कहना है कि" एक समाज' मूर्त है जो व्यक्तियों के संग्रह या समूह को सम्बोधित करता है और इनके व्यवहार अन्यों से अलग है।

4. **फ्रीमेन** के अनुसार, "विस्तृत अर्थों में" एक समाज' वह संगठन है जिसके कार्यात्मक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में स्वतंत्र अधिकार है और जो कुछ दूसरे संगठनों पर भी प्रभुत्व रखता है।"

5. **ग्रीन** के अनुसार, "एक समाज" वह सबसे बड़ा समूह है जिसका कोई भी व्यक्ति सदस्य हो सकता है।"ग्रीन ने "एक समाज' को बड़ा समूह बताया है तथा यह भी कहा है कि यह समय, स्थान, रुचि, तथा जनसंख्या के संगठन से बनता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर" एक समाज' की निम्नलिखित विशेषताएँ उभकर सामने आती हैं (1) "एक समाज' व्यक्तियों का बड़ा समूह है। (2) "एक समाज' मूर्त है क्योंकि यह व्यक्तियों के संगठन से बनता है। (3) "एक समाज' का क्षेत्र सीमित होता है। (4) "एक समाज' के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों, व्यवहारों तथा क्रियाओं में समानता होती है। (5) "एक समाज' के सदस्यों के उत्तरदायित्व सीमित होते हैं।

## "समाज" और "एक समाज' में अन्तर (Difference between "Society" and "A Socity")

**स्व-प्रगति की जाँच करें :**

1. एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के प्रति मैकाइवर पेज के विचार संक्षेप में प्रस्तुत करें।
2. 'पारस्परिक जागरूकता' समाज की एक विशेषता है-इस सम्बन्ध में आप क्या स्पष्ट करना चाहते हैं?
3. क्या समाज सहयोग और संघर्ष का क्रीड़ा-स्थल है?
4. क्या आप स्पष्ट करे सकते हैं कि समाजशास्त्र समाज अर्थात् सामाजिक सम्बन्धों के जाल या जटिल व्यवस्था का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

**(1) सामाजिक सम्बन्ध (Social Relation)**-सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर "समाज' और "एक समाज' में मौलिक अन्तर है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। यह जटिल व्यवस्था है।"एक समाज' इसकी तुलना में व्यक्तियों का समूह है।

**(2) मूर्तता (Abstraction)**-सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं। 'समाज' सामाजिक सम्बन्धों के जाल को कहते हैं। इसलिये समाज अमूर्त है। उसे देखा नहीं जा सकता। 'एक समाज' व्यक्तियों का समूह है। यह एक संगठन है। इसे देखा जा सकता है। व्यक्ति इसके सदस्य होते हैं। इसलिये "एक समाज' की प्रकृति मूर्त है।

**(3) जटिलता (Complexity)**-मैकाइवर और पेज ने परिभाषा में" समाज' को जटिल बताया है। इनका कहना है कि समाज जटिल सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था है जो हमेशा बदलता रहता है। समाज की तुलना में "एक समाज' सरल व्यवस्था है। समाज की तुलना में 'एक समाज' का संगठन सरल है।

**(4) भौगोलिक क्षेत्र (Geographical Area)**-समाज विस्तृत क्षेत्र में फैला होता है। इसका कोई निश्चित भौगोलिक क्षेत्र नहीं होता है।"एक समाज' के व्यक्ति सदस्य होते हैं जो साधारणतया एक निश्चित भागौलिक क्षेत्र के होते हैं। कभी-कभी "एक समाज' की शर्त होती है जिसके अनुसार अन्य क्षेत्र के व्यक्ति उसके सदस्य नहीं बन सकते हैं।

**(5) उत्तरदायित्व (Responsibility)**-समाज का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण व्यक्तियों के उत्तरदायित्व भी असीमित होते हैं।"एक समाज' के व्यक्ति सदस्य होते हैं। इसलिये उनका "एक समाज' के प्रति निश्चित और सीमित लेकिन स्पष्ट उत्तरादायित्व होता है।

**(6) समरूपता (Homogeneity)**-समाज विभिन्न व्यक्तियों के व्यवहारों से बनता है। इसलिये समाज में व्यवहारों तथा मनोवृत्तियों में बहुत अधिक भिन्नता होती है। इसकी तुलना में "एक समाज' का क्षेत्र, सदस्यता, उत्तरदायित्व आदि सीमित होने के कारण इनके व्यवहारों तथा मनोवृत्तियों में भी

काफी समानता पाई जाती है। समाज की तुलना में ''एक समाज' में सफलता अधिक होती है।

समाजशास्त्र में'' एक समाज' की अवधारणा का विशेष अध्ययन नहीं किया जाता है। समाजशास्त्र समाज का अध्ययन, अवलोकन, विश्लेषण तथा सामान्यीकरण करता है। किसी विशेष समाज या ''एक समाज' का उस प्रकार से अध्ययन नहीं करता है। समाज को समझने के लिए इस अन्तर का ध्यान रखना आवश्यक है कि'' एक समाज' से यह किस प्रकार भिन्न है। समाजशास्त्र समाज अर्थात् सामाजिक सम्बन्धों के जाल या जटिल व्यवस्था का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

## सारांश

व्यक्ति-व्यक्ति पर, व्यक्ति समूह पर, समूह समाज पर तथा समाज समूह पर विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए श्रम का विभाजन जितना न्यून होगा, समाज की जनसंख्या जितनी न्यून होगी, पारस्परिक सम्बन्ध जितने कम होंगें, भौगोलिक क्षेत्र जितना छोटा होगा उस समाज के सदस्यों में पारस्परिक निर्भरता उतनी ही कम होगी। अर्थात् समाज का आकार जितना छोटा होगा, उस समाज के सदस्यों में अन्योन्याश्रितता उतनी ही कम होगी। दूसरी ओर समाज की जनसंख्या जितनी अधिक होगी, पारस्परिक सम्बन्ध जितने ज्यादा होंगे, श्रम का विभाजन तथा विशेषीकरण जितना अधिक होगा, उस समाज के सदस्यों में अन्योन्याश्रितता उतनी ही अधिक होगी।

## स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. **मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के रूप में (Man as a social animal)**-मैकाइवर और पेज ने लिखा है कि है कि मनुष्य अपनी सुरक्षा, सुविधा, पालन-पोषण, शिक्षा, साज-सज्जा, आवास और समाज द्वारा प्रदत्त अन्य अनेक निश्चित सेवाओं का उपयोग करता है। अरस्तू ने इन बातों को ''मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' कहकर व्यक्त किया है। अनेक विद्वानों ने लिखा है कि अकेले रहने में मनुष्य की भलाई नहीं है। दण्डों में एकान्त कारावास सबसे कठोर दण्ड है; क्योंकि यह सबसे अधिक असहनीय होता है। कोई भी व्यक्ति समाज की आवश्यकता से स्वतंत्र नहीं है। व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक समाज की आवश्यकता

2. **पारस्परिक जागरूकता (Mutual Awareness)**-दो या अधिक व्यक्तियों में अन्तःक्रिया के लिए आवश्यक है कि उनको एक-दूसरे की प्रस्थिति का पूरा ज्ञान चाहिए। दूसरे लोग भी उनकी प्रस्थिति से अवगत होने चाहिए। लोग एक-दूसरे की स्थिति तथा भूमिका से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिचित होने चाहिए। अगर उनमें एक-दूसरे के प्रति जागरूकता नहीं होगी तो अन्तःक्रिया भी नहीं हो सकती। यही अन्तःक्रिया समाज का निर्माण करती हैं। ब्लूमर ने कहा है कि सामाजिक अन्तःक्रिया में हिस्सा लेने वाले व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की निरन्तर क्रियाओं की दिशा को समझकर स्वयं की अन्तःक्रिया की दिशा निर्धारित करते हैं। मैकाइवर और पेज ने मेज और टाइप राइटर का उदाहरण दिया था कि उनमें परस्पर एक-दूसरे की उपस्थिति के प्रति जागरूकता नहीं है। लेकिन दो या अधिक व्यक्ति जब एक-दूसरे की उपस्थिति, प्रस्थिति तथा भूमिका के प्रति जागरूक होते हैं तब उनमें अन्तःक्रिया होती है। यही अन्तःक्रियाएँ आगे चलकर सम्बन्धों का निर्माण करती हैं। परिवार में पिता-पुत्र, भाई-बहन आदि इसके उदाहरण हैं। पिता जानता है कि वह उसका पुत्र है। पुत्र भी जानता है कि वह उसका पिता हैं। दूसरे लोग भी जानते हैं कि वे पिता-पुत्र हैं। यही जागरूकता व सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था

समाज का निर्माण करती है।

3. **सहयोग और संघर्ष (Co-operation and Conflict)**-मैकाइवर और पेज का कथन है, "समाज सहयोग है जो संघर्ष से गुजरता है।" इस कथन से यह सामने आता है कि लोग परस्पर एक-दूसरे को सहयोग करते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। एक-दूसरे के प्रति "हम' की भावना रखते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं हैं कि लोग परस्पर एक-दूसरे से संघर्ष नहीं करते। जो लोग खुशहाल हैं, जिनके पास सुख-सुविधाएँ हैं उनसे वे लोग संघर्ष करते हैं जिनके पास इन सब का अभाव है। मार्क्स का सिद्धान्त है कि समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। चार्ल्स कूले और मैकाइवर तथा पेज का कहना है कि समाज में-सहयोग और संघर्ष-दोनों होते हैं, इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। समाजिक प्रक्रिया के दोनों सहयोग और संघर्ष की अब हम अलग-अलग व्याख्या करेंगे।

4. **समरूपता (Homogeneity)**-समाज विभिन्न व्यक्तियों के व्यवहारों से बनता है। इसलिये समाज में व्यवहारों तथा मनोवृत्तियों में बहुत अधिक भिन्नता होती है। इसकी तुलना में "एक समाज' का क्षेत्र, सदस्यता, उत्तरदायित्व आदि सीमित होने के कारण इनके व्यवहारों तथा मनोवृत्तियों में भी काफी समानता पाई जाती है। समाज की तुलना में "एक समाज' में सफलता अधिक होती है।

समाजशास्त्र में 'एक समाज' की अवधारणा का विशेष अध्ययन नहीं किया जाता है। समाजशास्त्र समाज का अध्ययन, अवलोकन, विश्लेषण तथा सामान्यीकरण करता है। किसी विशेष समाज या" एक समाज' का उस प्रकार से अध्ययन नहीं करता है। समाज को समझने के लिए इस अन्तर का ध्यान रखना आवश्यक है कि" एक समाज' से यह किस प्रकार भिन्न है। समाजशास्त्र समाज अर्थात् सामाजिक सम्बन्धों के जाल या जटिल व्यवस्था का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

## अभ्यास प्रश्न

1. समाजशास्त्र में समाज का क्या अर्थ है? समाज की परिभाषा दें।
2. समाज की विशेषताओं का विस्तृत वर्णन करें।
3. समाज और "एक समाज' में क्या अन्तर है?

NOTES

## bdkbl&8 lelnk;] vFk] ifjHkk"kk] lkelnkf;d Hkkoouk] fo'k"krk] çdkj

lekt'kkL=h; lkfgR; e "lenk;" dh ifjHkk"kk, fofo/k g] yfdu lkekU; rkj ij] vo/kkj.kk d fy, rhu vko';d fopkj fn[kkr g] vFkkR] igyk] lenk; ,d ekuo leg g; nljk] ble 'kkfey ykxk dh xfrfofo/k;k vkj vuHko leku gkr g; vkj rhljk] ;g ,d fuf'pr çknf'kd {k= e jgrk gA lenk;k dh fo'k"krk, fofo/k g D;kfd lenk; db 'kfä;k dk 'k) ifj.kke g & Hkkxkfyd] lkL—frd] jktuhfrd vkj vU;A lenk; dk le>u e ¼1½ fdlh Hkh çdkj dh lkenkf;d xfrfofo/k d fy, vko';d ykxk dh l[;k dk Kku] ¼2½ lenk; dh fLFkjrk dk çHkkfor dju oky ifjoru] ¼3½ ykxk dh lkL—frd #fp;k vkj ¼4½ fofHkUu lkenkf;d xfrfofo/k;k dk ijLij lc/k 'kkfey gA lenk; l lcf/kr 'kk/k dk; rkfdd :i l ,lh tkudkjh çnku dju d fy, fd, tk ldr gA oxhdj.k lenk;k dk le>u e lgk;rk djr g c'kr o lenk;k dh okLrfod fo'k"krkvk ij vk/kkfjr gkA iMkl vkj lenk; dh ifjHkk"kk, crkrh g fd iMkl ,d leg g ftle doy vkeu&lkeu lid gkr g] tcfd lenk; e vkeu&lkeu vkj vçR;{k lid nkuk 'kkfey gk ldr gA

lekt'kkL= e] "lenk;" dh vo/kkj.kk vk/kkjHkr vkj cgvk;keh nkuk g] tk ekuo l?k] vrl fØ;k vkj lk>k igpku d fofHkUu :ik dk 'kkfey djrh gA lenk;k dk Hkkxkfyd lhekvk] lkekftd uVod] lk>k fgrk ;k lkekU; eY;k }kjk ifjHkkf"kr fd;k tk ldrk gA bl y[k dk mí'; lenk; dh lekt'kkL=h; le> dk j[kkfdr djuk g] bldh ifjHkk"kkvk] fo'k"krkvk] çdkjk vkj l)kfrd –f"Vdk.kk dh [kkt djuk g tk bld egRo dk mtkxj djr gA ge vk/kfudrk vkj o'ohdj.k d lnHk e lenk; d ifjoruk dh Hkh tkp djx] ledkyhu lekt e bldh LFkk;h çklfxdrk ij tkj nxA

,frgkfld :i l] lekt'kkfL=;k u lenk; dh vo/kkj.kk dk fofHkUu dk.kk ln [kk gA QfMuM Vkuhl u viu ekfyd dk; "xfeu'kk¶V vM xly'kk¶V" ¼1887½ e "xfeu'kk¶V" ¼lenk;½ vkj "xly'kk¶V" ¼lekt½ d chp vrj fd;kA xebu'kk¶V xkeh.k vkj ikjifjd lektk dh [kkfl;r g] tk djhch 0;fäxr vkj ikfjokfjd lc/kk ij vk/kkfjr lkekftd lc/kk dk lnfHkr djrk gA ;g HkkoukRed c/ku] lk>k eY;k vkj vkilh lg;kx ij tkj nrk gA

bld foijhr] xly'kk¶V ,d çdkj d lkekftd lxBu dk n'kkrk g] ftldh fo'k"krk vo;fäd] vkipkfjd vkj y{;&mUe[k lc/k g] tk vDlj 'kgjh vkj vk|kfxd lektk e ik, tkr gA vk/kfud lekt'kkfL=;k u bu ikjifjd ifjHkk"kkvk dk foLrkj djd lenk;k d fofHkUu :ik dk 'kkfey fd;k g tk Hkkxkfyd vkj ikfjokfjd lhekvk l ij gA cufMDV ,Mjlu dh "dfYir lenk;k" dh vo/kkj.kk lk>k ehfM;k vkj lkefgd dYiuk dh Hkfedk dk mtkxj djrh g tk mu 0;fä;k d chp viuiu dh Hkkouk ink djrh g tk dHkh vkeu&lkeu ugh fey ldrA ;g fopkj jk"Vh; igpku vkj vkHkklh lenk;k dk le>u e egRoi.k g tk fMftVy ;x e iuir gA

समाजशास्त्रीय साहित्य में समुदाय, समिति एवं संस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्राथमिक अवधारणाएँ हैं। इन शब्दों का न केवल सामान्य लोगों ने बल्कि कुछ समाज-वैज्ञानिक तक ने मनमाने ढंग से अर्थ लगाया और प्रयोग किया है। किसी भी विषय को सही रूप से समझने और उसमें निश्चितता लाने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि उस विषय से सम्बन्धित प्राथमिक अवधारणाओं को वैज्ञानिक आधार पर ठीक से समझ लिया जाए।

## समुदाय (COMMUNITY)

समुदाय सामान्य भाषा में प्रचलित शब्द है जिसका प्रयोग कई बार जाति विशेष, धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेष के लोगों के लिए किया जाता है; जैसे ब्राह्मण समुदाय, ईसाई समुदाय, हिन्दू समुदाय, सिक्ख समुदाय, जैन समुदाय आदि। परन्तु, समाजशास्त्र में "समुदाय' शब्द का प्रयोग इन अर्थों में नहीं किया गया है। समाजशास्त्र में किसी भी गांव, कस्बे, नगर, महानगर तथा देश को समुदाय माना जाता है। इन सभी समूहों के साथ निश्चित भौगोलिक क्षेत्र जुड़ा हुआ है। जयपुर, दिल्ली, लखनऊ, कानपुर इंदौर, भोपाल, उज्जैन, ग्वालियर, आदि नगरों के अपने-अपने निश्चित भौगोलिक प्रदेश हैं, निश्चित क्षेत्र हैं। जहाँ व्यक्तियों का एक समूह सामान्यतः स्थायी रूप से निवास करता है। कोई भी गाँव, प्रान्त और देश भी अपने आप में एक समुदाय है। समुदाय एक क्षेत्रीय अवधारणा है। समुदाय में कुछ लोग निवास करते हैं, अपना सम्पूर्ण जीवन जीते हैं, किसी एक या कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि जीवन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समुदाय सामान्यतः अपने आप में आत्मनिर्भर होता है तथा अपने सभी सदस्यों की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ होता है। व्यक्ति किसी आर्थिक संगठन, राजनीतिक दल, क्लब या अन्य किसी समूह का सदस्य अपने किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनता है, परन्तु समुदाय में तो व्यक्ति अपने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए रहता है। व्यक्ति के जीवन के सभी क्रिया-कलाप, सभी गतिविधियाँ समुदाय में ही होते हैं। इसीलिए समुदाय को सम्पूर्णता का क्षेत्र कहा गया है। यह एक ऐसा क्षेत्रीय समूह है जिसे जानबूझकर नहीं बनाया जाता बल्कि जिसका समय के साथ स्वतः ही विकास होता है। एक समुदाय के लोगों में एक-दूसरे के निकट रहने और सामान्य जीवन में भागीदार होने के कारण "हम की भावना' (We-feeling) या'सामुदायिक भावना' (Community-felling) पायी जाती है।

प्रत्येक समुदाय की अपनी कुछ परम्पराएँ एवं नियम होते हैं जो लोगों के व्यवहारों को निर्देशित और नियन्त्रित करने में योगदान देते हैं।

## समुदाय का अर्थ एवं परिभाषा (MEANING AND DEFINITION OF COMMUNITY)

यदि शाब्दिक दृष्टि से समुदाय के अर्थ पर विचार करें तो हम पाते हैं कि अंग्रेजी का 'Community' (समुदाय) शब्द दो लैटिन शब्दों-' Com' तथा 'Munis' से बना है।

'Com' शब्द का अर्थ 'together' अर्थात् "एक साथ' से और "Munis' का अर्थ 'serving' अर्थात् "सेवा करने' से है। इन शब्दों के आधार पर समुदाय का तात्पर्य" साथ-साथ मिलकर सेवा करने से है। अन्य शब्दों में, समुदाय का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो निश्चित भू-भाग पर साथ-साथ रहते है और किसी एक उद्देश्य के लिए नहीं बल्कि सामान्य उद्देश्य के लिए इकट्ठे रहते हैं, उनका सम्पूर्ण जीवन सामान्यतः यहीं व्यतीत होता है।

समुदाय को परिभाषित करते हुए **प्रो. डेविस** लिखते हैं, "समुदाय सबसे छोटा ऐसा क्षेत्रीय समूह है जिसमें सामाजिक जीवन के समस्त पहलू आ जाते हैं।" इस परिभाषा में समुदाय के तीन तत्त्वों का उल्लेख किया गया है-(1) व्यक्तियों का समूह, (2) निश्चित भौगोलिक क्षेत्र, (3) सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं का समावेश।

**बोगार्डस** (Bogardus) के अनुसार, "एक समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें कुछ अंशों में"हम की भावना' पायी जाती है तथा जो एक निश्चित क्षेत्र में रहता है।"

**जार्ज लुण्डबर्ग** तथा अन्य ने समुदाय को परिभाषित करते हुये लिखा है" एक मानव जनसंख्या जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती है और जो सामान्य एवं अन्योन्याश्रित जीवन (Interdependent life) व्यतीत करती है, समुदाय कहलाता है।"

**मैकाइवर** तथा **पेज** के अनुसार, "जब किसी छोटे या बड़े समूह के सदस्य साथ-साथ इस प्रकार रहते हैं कि वे किसी विशेष हित में ही भागीदार नहीं होकर सामान्य जीवन की मूलभूत दशाओं या परिस्थितियों में भाग लेते हों तो ऐसे समूह को समुदाय कहा जाता है।" (4) इन्हीं विद्वानों ने अन्यत्र लिखा है, "समुदाय सामाजिक जीवन का ऐसा क्षेत्र है जिसमें सामाजिक सम्बद्धता (Social coherence) कुछ मात्रा में पायी जाती है।" स्पष्ट है कि आपने समुदाय को एक ऐसा क्षेत्रीय समूह माना जो एक सामान्य जीवन जीता है।

**ऑगबर्न** तथा **निमकॉक** के अनुसार," एक सीमित क्षेत्र में सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **समुदाय सामान्य सामाजिक जीवन में भागीदार लोगों का एक ऐसा समूह है जो किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करता है और जिसमें हम की भावना या सामुदायिक भावना पायी जाती है।**

## समुदाय के आधार (आवश्यक तत्व) (BASIS OR ESSENTIAL ELEMENTS OF COM-MUNITY)

किसी भी समूह के समुदाय कहलाने अथवा समुदाय के निर्माण के लिए तीन आधारों का होना प्रमुखतः आवश्यक माना गया है जो इस प्रकार हैं:

**(1) व्यक्तियों का समूह (Group of Individuals)**-किसी भी समुदाय के लिए व्यक्तियों का समूह प्रथम आवश्यकता है। व्यक्तियों के बिना न तो सामान्य सामाजिक जीवन की कल्पना की जा सकती है और न ही सामुदायिक भावना की। अतः व्यक्तियों का समूह समुदाय के निर्माण के लिए प्रथम प्रमुख आधार है।

**(2) निश्चित भौगोलिक क्षेत्र (Definite Geographical Area)**-प्रत्येक समुदाय के एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का होना भी आवश्यक है। जब तक कोई समूह निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास नहीं करता है, तब तक उसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। किसी भी गाँव, नगर या राष्ट्र को इसीलिए समुदाय कहा जाता है कि इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। एक क्षेत्र विशेष में लम्बे समय तक साथ-साथ रहने और जीवन की सामान्य गतिविधि यों में भाग लेने से लोगों से अपनत्व की भावना पनपती है। वे इस समूह विशेष को अपना समूह समझते हैं। निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में एक-दूसरे के निकट रहने के कारण ही लोगों में अन्तःक्रिया की मात्रा बढ़ती है जो सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण की दृष्टि से आवश्यक है।

**(3) सामुदायिक भावना (Community Sentiment)**-इसे ''हम की भावना' के नाम से पुकारते हैं। समुदाय के निर्माण के लिए व्यक्तियों के समूह तथा निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के अलावा सामुदायिक भावना का होना भी अत्यंत आवश्यक है। सामुदायिक भावना का तात्पर्य ''हम सब एक हैं', 'यह समुदाय हमारा है', ''यह अन्य समुदायों से भिन्न है', ''इसके सुख-दुख में हम सभी समान रूप से भागीदार है', ''हम सब दृढ़ता के सूत्र में बंधे हुए हैं', आदि से है। सामान्यतः प्रत्येक समुदाय अन्य समुदायों के संदर्भ में एक संगठित इकाई के रूप में कार्य करता है। जब तक किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों में यह सामुदायिक भावना नही पनपती तब तक उसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। जब कुछ लोग लम्बे समय से इकट्ठे साथ-साथ रहते हैं, साथ-साथ कार्य करते हैं, एक-दूसरे के सुख-दुख में भाग लेते हैं, सामूहिक हितों के प्रति जागरूक रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहते हैं तो उनमें ''हम की भावना या सामुदायिक भावना' का पनपना स्वाभाविक है।

### सामुदायिक भावना के अन्तर्गत प्रमुखतः तीन बातें पायी जाती है:

**(1) हम की भावना की अभिव्यक्ति (Expression of We-feeling)**-हम की भावना व्यक्तियों को सुख-दुख में साथ देने और मिलकर काम करने को प्रोत्साहित करती है। स्थान या क्षेत्र विशेष के साथ लोगों का विशेष लगाव पाया जाता है। वे अपने समुदाय के लोगों को अपना समझते हैं। उनमें भाई-चारे के सम्बन्ध पाये जाते हैं। हम सब एक हैं, हमारे सबके हित सामान्य हैं और सब एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं इस प्रकार की बलवती भावना समुदाय के सदस्यों को एकता के सूत्र में बाँधे रखती है।

**(2) योगदान या दायित्व निर्वाह की भावना (Role Feeling)**-सामुदायिक भावना का एक अन्य तत्त्व समुदायों में समुदाय के कार्यों में सम्मिलित होने और योगदान देने की भावना है। समुदाय से सम्बन्धित अनेक ऐसे सामूहिक कार्य होते हैं जिन्हें पूरे समुदाय के सहयोग के बिना पूर्ण नहीं किया जा सकता है। अतः विभिन्न सदस्य अपनी-अपनी प्रस्थितियों के अनुसार भूमिका निभाते हुए समुदाय के कार्यों में योग देते हैं, अन्य सदस्यों की सहायता करना अपना दायित्व समझते हैं।

**(3) निर्भरता की भावना (Dependency Feeling)**-सामुदायिक भावना के अन्तर्गत निर्भरता की भावना एक आवश्यक तत्व है। व्यक्ति अपने को एक-दूसरे पर और सम्पूर्ण समुदाय पर निर्भर समझते हैं। उन्हें अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता है। पारस्परिक रूप से निर्भर रहने की भावना सामुदायिक भावना को बढ़ाने में योगदान देती है।

वर्तमान समय में औद्योगीकरण, श्रम विभाजन, विशेषीकरण, नगरीकरण, यातायात और संचार के साधनों के विकास, भौगोलिक दूरी में कमी, एक ही विश्व दृष्टिकोण, जनसंख्या की तीव्र वृद्धि एवं जनसंख्या में विविधता, व्यक्तिगत स्वार्थ का बढ़ना तथा द्वैतीयक सम्बन्धों की प्रधानता, आदि कारणों से सामुदायिक भावना में कमी आती जा रही है और ऐसा विशेषतः नगरीय समुदायों में देखने को मिलता है।

## समुदाय की विशेषताएँ (लक्षण) (CHARACTERISTICS OF COMMUNITY)

समुदाय की निम्नलिखित कुछ प्रमुख विशेषताएँ या लक्षण इस प्रकार है:

(1) **स्वतः विकास (Spontaneous Growth)**-समुदाय का निर्माण कुछ लोगों के द्वारा जान-बूझकर या नियोजित प्रयत्नों द्वारा नहीं किया जाता। इसका तो समय के बीतने के साथ-साथ ही विकास होता है। जब कुछ लोग किसी स्थान विशेष पर रहने लगते हैं तो धीरे-धीरे उनमें हम की भावना पनपती है और वे वहां रहने वाले सभी लोगों के समूह को अपना समूह समझने लगते हैं। इस प्रकार की भावना के विकसित होने पर वह समूह समुदाय का रूप ग्रहण कर लेता है।

(2) **स्थायीपन (Permanency)**-इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समुदाय एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में स्थायी रूप से होता है। किसी भी अस्थायी समूह जैसे भीड़, श्रोता समूह या खानाबदोश झुण्ड को समुदाय नहीं माना जाता क्योंकि इनके साथ भौगोलिक क्षेत्र स्थायी रूप से जोड़ा हुआ नहीं होता। समुदाय एक ही स्थान पर बना रहता है जब तक कि भूकम्प, तूफान, बाढ़ या युद्ध के कारण वह पूरी तरह से नष्ट न हो जाए। हम स्पष्टतः यह जानते हैं कि कौन सा समुदाय किस भौगोलिक क्षेत्र में बसा हुआ है। इसका कारण समुदाय के साथ स्थायित्व के तत्त्व का जुड़ा होना है।

(3) **विशिष्ट नाम (Specific Name)**-प्रत्येक समुदाय का अपना एक विशिष्ट नाम होता है जो उस समुदाय के लोगों में "हम की भावना जागृत करने और उसे बनाये रखने में योग देता है। प्रत्येक समुदाय के नाम के साथ विशिष्ट इतिहास जुड़ा होता है जो उसे एक व्यक्तित्व प्रदान करता है। उदाहरण के रूप में, दिल्ली एक ऐसा समुदाय है जिसके नाम के साथ एक लम्बा इतिहास जुड़ा हुआ है जो उसे विशिष्टता प्रदान करता है।

(4) **मूर्तता (Concreteness)**-समुदाय एक मूर्त समूह है। इसका कारण यह है कि एक निश्चित भू-भाग पर बसे मनुष्यों के समूह के रूप में हम इसे देख सकते हैं। यद्यपि समुदाय से सम्बन्धि त विभिन्न नियमों को तो नहीं देखा जा सकता, परन्तु मनुष्यों के रूप में इसे अनुभव अवश्य किया जा सकता है।

(5) **व्यापाक उद्देश्य (Extensive Objectives)**-समुदाय का विकास किसी एक या कुछ विशिष्ट उद्देश्यों के लिए नहीं होता। यह तो व्यक्तियों के जीवन की विभिन्न गतिविधियों का केन्द्र स्थल है। इसमें अनेक समूह, समितियाँ एवं संस्थाएँ समाहित होती हैं तो समुदाय के व्यापक लक्ष्यों की पूर्ति में योगदान देती हैं। समुदाय के उद्देश्य इस दृष्टि से भी व्यापक हैं कि यह किसी व्यक्ति विशेष, समूह विशेष के हित या लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कार्य न करके सभी व्यक्तियों एवं समूहों के सभी प्रकार के लक्ष्यों की पूर्ति हेतु कार्य करता है।

(6) **सामान्य जीवन (Common life)**-प्रत्येक समुदाय के कुछ सामान्य रीति-रिवाज, परम्पराएँ, विश्वास, उत्सव एवं त्यौहार तथा संस्कार आदि होते हैं जो उस समुदाय के लोगों के जीवन में एकरूपता उत्पन्न करने में योगदान देते हैं। समुदाय में ही व्यक्ति की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आदि आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। यहीं उसका सम्पूर्ण जीवन व्यतीत होता है। इस दृष्टि से समुदाय सामान्यताओं का एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि अपना सारा जीवन बिताने के लिए रहता है। इस प्रकार समुदाय में सदस्यों का सम्पूर्ण जीवन सामान्य रूप से व्यतीत होता है।

(7) **सामान्य नियम व्यवस्था (Common Rules)**-गिन्सबर्ग ने नियमों की सामान्य व्यवस्था को समुदाय की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता माना है। सामान्य नियमों के माध्यम से सदस्यों के व्यवहार को निर्देशित किया जाता है, उस पर नियन्त्रण रखा जाता है। सामान्य नियमों से निर्देशित होने के कारण

ही एक समुदाय विशेष के लोगों के व्यवहारों में बहुत कुछ समानता देखने को मिलती है। सामान्य नियम-व्यवस्था का प्रभाव छोटे समुदायों जैसे ग्राम समुदाय या जनजातीय समुदाय में विशेषतः पाया जाता है, जहां अनौपचारिक साधनों या अलिखित नियमों द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को निर्देशित और नियन्त्रित किया जाता है।

(8) **आत्म-निर्भरता (Self-Sufficiency)**-समुदाय को एक आत्म निर्भर समूह माना गया है जो अपनी सभी आवश्यकताओं की पूति स्वयं ही कर लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि उसे किसी अन्य समुदाय पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। समुदाय की यह विशेषता आदिम समुदायों, जनजातीय समुदायों या छोटे समुदायों में पायी जा सकती है, वर्तमान समय के बड़े समुदायों में नहीं। आज तो छोटे समुदायों, जैसे ग्रामों तक को अन्य ग्रामीण या नगरीय समुदायों पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः किसी समय आत्म निर्भरता समुदाय की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी, परन्तु अब इसका महत्व कम हो गया है। अब तो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक समुदाय को कम या अधिक मात्रा में साधारणतः अन्य समुदायों पर निर्भर रहना पड़ता है। यह कहा जा सकता है कि आज भौतिक दृष्टि से तो समुदाय आत्मनिर्भर नहीं रहे हैं, परन्तु सामाजिक दृष्टि से आत्म-निर्भर अवश्य है क्योंकि सामाजिक जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण पहलू समुदाय में आ जाते हैं।

(9) **अनिवार्य सदस्यता (Compulsory Membership)**-प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है। वह किसी न किसी क्षेत्र विशेष में अन्य लोगों के निकट रहता है, उसके साथ अन्तःक्रिया करता है। उसे अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी न किसी क्षेत्रीय-समूह अर्थात् समुदाय में रहना पड़ता है। एक क्षेत्र विशेष में लम्बी अवधि तक अन्य लोगों के साथ रहने में उसमें अपने समुदायों के प्रति एक लगाव या अपनत्व का भाव पैदा हो जाता है। आज के युग में भौगोलिक और सामाजिक गतिशीलता के बढ़ जाने से लोग एक भौगोलिक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चले जाते हैं एक समुदाय को छोड़कर किसी अन्य समुदाय में जाकर रहने लग जाते हैं, परन्तु इतना अवश्य है कि सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है।

## समुदाय के प्रकार (Types of Communities)

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समुदाय के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया है। **प्रो0 किंग्सले डेविस** ने बताया है कि समुदायों का वर्गीकरण करने के लिए चार अन्तर सम्बन्धित तत्वों या कसौटियों को काम में लिया जा सकता है जो इस प्रकार है-(1) जनसंख्या का आकार, (2) समुदाय के चारों ओर के प्रदेश का विस्तार, सम्पत्ति एवं आबादी, (3) सम्पूर्ण समाज में समुदाय के विशेषीकृत कार्य तथा (4) समुदाय के संगठन का प्रकार। इन तत्त्वों के आधार पर आदिम समुदायों के विभिन्न प्रकारों के बीच, आदिम और सभ्य समुदायों के बीच तथा ग्रामीण और नगरीय समुदायों के बीच अन्तर को स्पष्ट करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है।

**प्रो. डेविस** ने प्रमुखतः आदिम जातियों (Bands) और गाँवों में अन्तर स्पष्ट किया है। इसके अलावा उन्होंने ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों पर सविस्तार प्रकाश डाला है। अधिकांश मानव इन दो प्रकार के समुदायों में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। **मैकाइवर** एवं पेज ने ग्रामीण, नगरीय एवं क्षेत्रीय समुदायों का उल्लेख किया है। **बोगार्डस** ने चार प्रकार के समुदाय बताये हैं: ग्रामीण समुदाय, नगरीय समुदाय, क्षेत्रीय समुदाय (प्रान्त, प्रदेश आदि) तथा राष्ट्रीय समुदाय (राष्ट्र)। **राबर्ट रेडफील्ड** ने लघु समुदाय का उल्लेख किया है जिसे कुछ लोगों ने लघु कृषक समुदाय के नाम से भी पुकारा है।

हम यहाँ समुदाय के कुछ प्रमुख प्रकारों का उल्लेख करेंगे :

(1) **ग्रामीण समुदाय (Rural Community)**-ग्रामीण समुदाय मानव आवास का एक रूप है जिसकी प्रमुख विशेषताएँ है-लघु आकार, कम जनसंख्या, जीवन यापन के लिए लोगों की प्रकृति पर निर्भरता, कृषि मुख्य व्यवसाय, सम्बन्धों की घनिष्ठता एवं आत्मीयता, प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध निवासियों में सामाजिक-सांस्कृतिक समरूपता, सरल एवं सादा जीवन, सामाजिक गतिशीलता का अभाव, धर्म, प्रथा और रूढ़ियों का अधिक प्रभाव, परिवार का जीवन में अधिक महत्व होना एवं संयुक्त परिवार प्रणाली का प्रचलन, सामुदायिक भावना की प्रगाढ़ता आदि।

भारत के सभी गाँव ग्रामीण समुदाय के प्रमुख उदाहरण है।

(2) **नगरीय समुदाय (Urban Community)**-नगरीय समुदाय ग्रामीण समुदाय के विपरीत विशेषताओं वाले क्षेत्र होते हैं। नगरीय समुदायों की प्रमुख विशेषताएँ है-बड़ा आकार, जनसंख्या की बहुलता, जनसंख्या की विभिन्नता, व्यवसायों की बहुलता एवं विभिन्नता तथा कृषि के स्थान पर व्यवसायों के द्वारा ही लोगों द्वारा जीवन-यापन करना, घर एवं परिवार का महत्व ग्रामीण समुदायों की अपेक्षा कम होना, छोटे परिवारों की बहुलता, द्वैतीयक सम्बन्धों की प्रधानता, कृत्रिमता, व्यक्तिवाद को अधिक महत्व, गतिशीलता तथा विभिन्न प्रकार की सामाजिक आर्थिक समस्याओं की प्रचुरता का होना। भारत के बड़े-बड़े नगर इनके प्रमुख उदाहरण हैं।

(3) **लघु समुदाय (Little Community)**-राबर्ट रेडफील्ड ने लघु समुदाय की अवधारणा दी है। उनका मत है कि मानव-समाज का लगभग तीन-चौथाई भाग इसी प्रकार के समुदायों में निवास करता है। ये समुदाय मानव के स्थायी निवास बनाकर रहने के प्रारम्भिक स्वरूप को दर्शाते हैं। रेडफील्ड ने लघु समुदाय की चार विशेषताओं का उल्लेख किया है-(1) लघु समुदायों का आकार बहुत छोटा होता है, (2) लघु समुदाय विशिष्ट प्रकार की जीवन-शैली को व्यक्त करते हैं जिसके आधार पर एक लघु समुदाय को दूसरे से भिन्न रूप में पहचान सकते हैं, (3) लघु समुदायों के लोगों के जीवन एवं संस्कृति में समरूपता पायी जाती है, तथा (4) लघु समुदाय आत्मनिर्भर होते हैं। उनमें जन्म से लेकर मृत्यु तक की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है।

(4) **जनजातीय समुदाय (Tribal Community)**-सामान्यतः हम जनजातीय समुदाय उसे कहते हैं जिनमें आदिवासी, आदिम जाति या जनजाति के लोग निवास करते हैं। एक जनजातीय समुदाय में रहने वाले व्यक्ति सामान्यतः एक भाषा बोलते हैं, उनकी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है जो अपने समूह को दूसरे समूह से पृथक करती है, जनजातीय समुदाय की अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक स्वायत्ता होती है, यह एक प्रकार का बन्द समाज होता है, इसमें सामाजिक समानता पायी जाती है तथा नातेदारी का महत्व अधिक होता है, इसमें धर्म एवं जादू को भी अधिक महत्व दिया जाता है, इसमें परिवार का अधिक महत्व पाया जाता है तथा गतिशीलता का अभाव एवं स्थिरता की प्रबलता पायी जाती है। दक्षिणी राजस्थान में अनेक गाँव ऐसे हैं जहां कोई एक ही जनजाति या दो तीन जनजातियाँ ही एक समुदाय में रहती है। वे जनजातीय समुदाय के स्पष्ट लक्षणों को अभिव्यक्त करते हैं।

(5) **क्षेत्र (Region)**-विद्वानों ने क्षेत्र या प्रदेश की व्याख्या उसकी प्रकृति के आधार पर की है। एक क्षेत्र में लक्षणों की समरूपता होती है और वह अपने लक्षणों के द्वारा दूसरे क्षेत्रों से भिन्न रूप में पहचाना जाता है। क्षेत्र या प्रदेश में भौतिक लक्षणों की ही समरूपता नहीं वरन् उसमें सांस्कृतिक लक्षण तथा

आर्थिक व्यवसायों में भी समरूपता पायी जाती है। सारांश में एक क्षेत्र में (1) भौगोलिक तत्वों की समरूपता पायी जाती है (2) उसकी एक विशिष्ट स्थिति (location) होती है, (3) उसके लक्षण एक जैसे होते हैं, (4) उसमें समान विचार एवं समानुरूपता (accordant) पायी जाती है, (5) ये परिवर्तनशील होते हैं तथा (6) इनकी व्याख्या एवं वर्गीकरण सिद्धान्तों के आधार पर किया जा सकता है। भाषायी क्षेत्र, भौगोलिक क्षेत्र, आर्थिक क्षेत्र एवं सांस्कृतिक क्षेत्र विभिन्न प्रकार के क्षेत्रों के उदाहरण हैं।

उपर्युक्त समुदायों के अतिरिक्त मैकाइवर ने कुछ ऐसे समुदायों का भी उल्लेख किया है जिनमें समुदाय की आंशिक विशेषताएँ पायी जाती हैं, इन्हें वह सीमावर्ती समुदाय (Bordor line Community) कहता है। इनका उल्लेख अलग से करेंगे।

**सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण (Borderline Communities : Some Examples)**

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ग्राम, जनजातीय समूह (जो एक क्षेत्र विशेष में बसा हो), कस्बा, नगर, राष्ट्र आदि समुदाय के उदाहरण हैं। इनमें समुदाय के प्रमुख आधार और अनेक विशेषताएँ मौजूद हैं।

इनके अतिरिक्त, कुछ समूह अथवा संगठन ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में यह भ्रम पाया जाता है कि वे समुदाय हैं अथवा नहीं। इसका कारण यह है कि उनमें समुदाय की कुछ विशेषताएँ तो पायी जाती हैं और कुछ नहीं। ऐसे समूह जिनके समुदाय होने के सम्बन्ध में कुछ भ्रम हैं, परन्तु जिनमें समुदाय की कुछ विशेषताएँ मौजूद है, सीमावर्ती समुदायों के अन्तर्गत आते हैं। मैकाइवर एवं पेज ने सीमावर्ती समुदायों का उल्लेख किया है। सीमावर्ती समुदाय ऐसे समुदायों को कहा जाता है जिनमें कुछ विशेषताएँ तो समुदाय की होती है, साथ ही उनमें संस्था, समूह या समिति की भी विशेषताएँ होती हैं। वे पूरी तरह से समुदायों के लक्षणों को प्रकट नहीं करते हैं। उनमें समुदाय की कुछ विशेषताएँ जैसे सामान्य जीवन तथा सभी लोगों के सदस्य होने की स्वतंत्रता का गुण नहीं पाया जाता है, अतः वे समुदाय न होकर सीमावर्ती समुदाय होते हैं। जाति, जेल, पड़ोस, परिवार आदि सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण हैं। हम यहां सीमावर्ती समुदायों के कुछ उदाहरणों पर विचार करेंगे।

(1) **क्या जाति एक समुदाय है? (Is Caste a Community?)**-जाति में समुदाय की कुछ विशेषताएं पायी जाती है। उदाहरण के रूप में, जाति भी व्यक्तियों का एक समूह है और साथ ही इसमें अपने सदस्यों के प्रति कुछ मात्रा में''हम की भावना' या''सामुदायिक भावना' भी पायी जाती है। प्रत्येक जाति का अपना एक विशिष्ट नाम भी होता है। जाति किसी विशिष्ट हित या उद्देश्य को लेकर नहीं बल्कि अपने सदस्यों के सामान्य हितों को लेकर कार्य करती है। इसके अलावा प्रत्येक जाति के अपने कुछ सामान्य नियम भी होते हैं जिनके माध्यम से सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता है। इन विशेषताओं के आधार पर कुछ लोग जाति को एक समुदाय मानते हैं, परन्तु समुदाय के एक प्रमुख आधार-निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का जाति में पूर्णतः अभाव पाया जाता है। समुदाय के लिए निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का होना आवश्यक है, परन्तु जाति का क्षेत्र विशेष के साथ सम्बन्ध नहीं होता। एक ही जाति के लोग विभिन्न क्षेत्रों में फैले होते हैं। इसके अलावा एक जाति अनेक उपजातियों में बँटी होती है और ऐसी स्थिति में सामुदायिक भावना जाति के लिए केन्द्रित न होकर उपजातियों में बँट जाती है। कुछ ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से जाति को समुदाय नहीं माना जा सकता। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर भी जाति को एक समुदाय नहीं मानते।

(2) **क्या जेल (बन्दीगृह) एक समुदाय है? (Is Prison a Community?)**-जेल व्यक्तियों का एक

समूह है और साथ ही इसका एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है, जेल में निवास करने वाले लोगों में कुछ मात्रा में सामुदायिक भावना भी पायी जाती है। इन आधारों पर मैकाइवर एवं पेज ने जेल को समुदाय माना है। इन्होंने जेल को इस कारण भी समुदाय माना है कि इसका अपना एक कार्यक्षेत्र है यद्यपि अन्य समुदाय की तुलना में यह सीमित है। इन्होंने बताया है कि कार्यक्षेत्र का सीमित होना समुदाय विशेष की प्रकृति पर निर्भर करता है।

परन्तु हम मैकाइवर और पेज के जेल को एक समुदाय मानने के मत से पूर्णतः असहमत है। जेल में जब समुदाय की अनेक विशेषताएँ नहीं पायी जाती तो इसे समुदाय कैसे माना जा सकता है। इसे समुदाय नहीं मानने के निम्नलिखित कारण है:

(1) जेल के कैदियों में हम की भावना, जेल के प्रति लगाव या अपनत्व या त्याग की भावना का अभाव पाया जाता है। (2) जेल में सभी सामान्य जीवन में भागीदार नहीं होते, सबका जीवन समान या एक-सा नहीं होता है। अपराध की प्रकृति और अपराधी की परिस्थिति को ध्यान में रखकर उसे जेल में एक विशेष श्रेणी में कैदी के रूप में रखा जाता है और प्रत्येक श्रेणी के कैदियों के अन्य श्रेणियों के कैदियों से भिन्न प्रकार की सुविधाएँ मिलती है। ऐसी दशा में जेल के सामान्य जीवन का क्षेत्र होने का प्रश्न ही नहीं उठता। (3) व्यक्ति के जीवन के सभी पक्ष जेल में अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यहाँ उसका कोई पारिवारिक जीवन नहीं हो सकता, वह अपने परिवार के सदस्यों के साथ यहाँ नहीं रह सकता। जीवन के सामान्य उद्देश्य की पूर्ति यहाँ सम्भव नहीं है। (4) जेल का स्वतः विकास नहीं होता। इसे तो जान-बूझकर एक विशिष्ट उद्देश्य-अपराधियों को सजा देने या उन्हें सुधारने हेतु निर्मित किया या बनाया जाता है। (5) जेल में समुदाय के समान स्थायित्व का भी अभाव पाया जाता है। सरकार इसे समाप्त भी कर सकती है स्थान परिवर्तन भी कर सकती है। यहां हम यही कह सकते हैं कि जेल एक समुदाय न होकर समुदाय का एक अंग है, एक समिति है जिसे विशेष उद्देश्य को लेकर बनाया गया है।

(3) **क्या पड़ोस समुदाय है? (Is Neighbourhood a Community?)**-आदिम समाजों में पड़ोस में समुदाय की विशेषताएँ पायी जाती थी। कुछ गाँवों में पड़ोस आज भी समुदाय के रूप में महत्त्वपूर्ण है, परन्तु अब ऐसे समुदायों की संख्या नहीं के बराबर है। पहले पड़ोस एक निश्चित क्षेत्र में पीढ़ी-दर-पीढ़ी निवास करने वाले परिवारों का एक समूह था जिसमें सामुदायिक भावना थी, परन्तु आज के आधुनिक जटिल नगरीकृत समाजों में पड़ोस को निम्न कारणों से समुदाय नहीं माना जा सकता। (1) पड़ोस सामान्यताओं का क्षेत्र नहीं है। यहाँ सभी व्यक्तियों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है। इसके अलावा जीवन-स्तर में भी काफी भिन्नता देखने को मिलती है। यहाँ सभी लोगों का जीवन-स्तर समान नहीं होता (2) नगरीय क्षेत्र में लोग अपने पड़ोसी को जानते तक नहीं। एक ही मकान में रहने वाले लोग एक-दूसरे से अपरिचित होते हैं। ऐसी दशा में उनमें ''हम की भावना' या सामुदायिक भावना कैसे पनप सकती है जो कि समुदाय के लिए आवश्यक है। (3) आजकल तो पड़ोस का स्वतः विकास भी नहीं होता। अब तो जान-बूझकर नयी कॉलोनियाँ जैसे कर्मचारी कॉलोनी, मजदूर बस्ती, आदि बनायी जाती है जिनमें व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने पड़ोस को चुनता है। (4) यहाँ नियमों की कोई सामान्य व्यवस्था नहीं पायी जाती है, जो व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित करें और उन्हें एकता के सूत्र में बाँधे। इन सब कारणों की वजह से विशेषतः नगरीय समुदायों और कुछ अपवादों को छोड़कर ग्रामीण समुदायों में भी पड़ोस को समुदाय नहीं माना जा सकता।

किसी राजनीतिक दल, आर्थिक संगठन, धार्मिक संघ, विद्यार्थी समूह, कर्मचारी संघ, क्लब, परिवार, आदि को समुदाय नहीं माना जा सकता है क्योंकि इनमें समुदाय के आवश्यक आधारों एवं विशेषताओं का अभाव पाया जाता है। उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त किसी भी अन्य समूह के सम्बन्ध में विद्यार्थीगण समुदाय के आधार और विशेषताओं को ध्यान में रखकर यह निश्चित कर सकते हैं कि वह समुदाय है या नहीं।

## समिति (Association)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसकी असंख्य आवश्यकताएँ हैं। अपने अस्तित्व को बनाये रखने और समुदाय में अपने जीवन को ठीक प्रकार से चलाने के लिए इन आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है। अपनी इन विभिन्न प्रकार के आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति कई तरीके अपना सकता है। अपने कुछ लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अन्य लोगों के साथ मिलकर उनके साथ सहयोग करके किसी संगठन की स्थापना करके कार्य करना ही समिति को जन्म देना है। इस प्रकार स्पष्ट है कि **जब कुछ लोग मिलकर अपनी आवश्यकताओं या उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सहयोग करते हैं, संगठन बनाकर प्रयत्न करते हैं तो ऐसे संगठन को ही समिति कहा जाता है।**

## इकाई-9
## समिति की परिभाषा एवं अर्थ (Definiation and Meaning of Association)

**मैकाइवर एवं पेज** के अनुसार, "समिति मनुष्यों का एक समूह है जिसे किसी सामान्य उद्देश्य या उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संगठित किया गया है।"

**फ़ेयरचाइल्ड** के अनुसार, "समिति एक ऐसा संगठनात्मक समूह है जिसका निर्माण सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया है, अपना आत्मनिर्भर प्रशासकीय ढाँचा तथा कार्यकर्ता होते हैं।"

**गिन्सबर्ग क** अनुसार, "समिति एक-दूसरे से सम्बद्ध सामाजिक प्राणियों का समूह है जो इस सत्य पर आधारित है कि उन्होंने किसी निश्चित हित या हितों का पूरा करने के लिए एक सामान्य संगठन बनाया है।"

**ऑगबर्न एवं निमकॉफ** के अनुसार, "समिति एक ऐसा संगठन है, जो प्राय: विशेष स्वार्थों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। इसका उद्देश्य अपने सदस्यों की विशेष या सामान्य इच्छाओं की संतुष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

**संक्षेप में, समिति को मनुष्यों के विचारपूर्वक बनाये गये एक ऐसे संगठन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके एक या कुछ उद्देश्य होते हैं और साथ ही जिसकी अपनी एक कार्यकारिणी भी होती है।**

## समिति की विशेषताएँ (लक्षण) (Characteristics of Association)

समिति की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर इसकी प्रमुख विशेषताओं या लक्षणों को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है:-

(1) **व्यक्तियों का समूह**-समिति का निर्माण कुछ व्यक्ति मिलकर करते हैं और क्योंकि व्यक्ति मूर्त प्राणी है, अतः समिति एक मूर्त संगठन है।

**(2) निश्चित उद्देश्य-**समिति के एक या कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं। कुछ व्यक्ति अपने सामान्य हितों को लेकर ही एक समिति का गठन करते हैं। किसी उद्देश्यहीन समूह को समिति नहीं कहा जा सकता।

**(3) विचारपूर्वक स्थापना-**समिति एक विचारपूर्वक स्थापित किया हुआ संगठन माना जाता है। जब कुछ लोग सामूहिक रूप से मिलकर अपने किसी उद्देश्य या कुछ उद्देश्य को पूरा करना चाहते हैं तो वे एक संगठन का निर्माण करते हैं जिसें समिति कहा जाता है।

**(4) एक निश्चित संगठन-**प्रत्येक समिति का एक निश्चित संगठन होता है। संगठन के अभाव में कोई भी समिति अपने उद्देश्य को ठीक से प्राप्त नहीं कर सकती। किसी भी भीड़ को संगठन के अभाव में समिति नहीं कहा जा सकता।

**(5) नियमों पर आधारित-**प्रत्येक समिति के अपने कुछ नियम, उपनियम आदि होते हैं जिनके माध्यम से सदस्यों के आचरण को नियमित किया जाता है। ऐसे नियमों में सदस्यता सम्बन्धी योग्यता, सदस्यता शुल्क, कार्य प्रणाली, आदि आते हैं।

**(6) ऐच्छिक सदस्यता-**किसी भी समिति का सदस्य बनना या नहीं बनना पूर्णतः व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। वह अपने हित या रूचि के अनुसार किसी भी समिति का सदस्य बन सकता है और जब चाहे तब सदस्यता से त्यागपत्र भी दे सकता है।

**(7) अस्थायी प्रकृति-**समिति साधारणतः कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विचारपूर्वक बनायी जाती है और उन उद्देश्यों के पूरा होने पर उस समिति को समाप्त कर दिया जाता है। उदाहरण के रूप में, शिक्षण संस्थाओं में छात्र कुछ मांगों को लेकर विद्यार्थी संघर्ष समिति का गठन करते हैं और अपना आन्दोलन चलाते हैं उन मांगों के पूरा हो जाने पर संघर्ष समिति भंग कर दी जाती है।

**(8) औपचारिक सम्बन्ध-**समिति के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की प्रकृति औपचारिक होती है। व्यक्ति अपने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न समितियों की सदस्यता ग्रहण करता है और इन समितियों के सभी सदस्यों के साथ वह सामान्यतः घनिष्ठता के सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता।

**(9) साध्य नहीं होकर साधन-**कोई भी समिति साधारणतः कुछ उद्देश्यों की पूर्ति का साधन मात्र होती है, अपने आप में साध्य नहीं। कोई व्यक्ति किसी क्लब का सदस्य मनोरंजन सम्बन्धी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनता है तो क्लब उसके मनोरंजन का साधन है, न कि अपने आप में साध्य।

## समिति के कुछ उदाहरण (Few Examples of Association)

समितियों के विभिन्न प्रकार पाये जाते हैं, जैसे-आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं मनोरंजनात्मक समितियां। समिति के उदाहरणों के रूप में व्यापारिक समितियों मजदूर संगठनों, व्यावसायिक समितियों, सहकारी समितियों, सुधार-आन्दोलन संगठनों, राजनीतिक दलों, पंचायतों, विभिन्न समाज-कल्याण समितियों, धार्मिक समाज, प्रार्थना समाज, रामायण मण्डल, कॉलेज, वैज्ञानिक समाज, कलात्मक समाज, संगीत मण्डल, व्यायामशाला, परिवार, महिला संगठन, साहित्य परिषद, आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

कभी-कभी किसी संगठन के सम्बन्ध में यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि उसे समिति माना जाये अथवा नहीं। ऐसे संगठनों में परिवार एवं राज्य आते हैं जिन पर यहाँ समिति के उदाहरण के रूप में विचार किया जा रहा है।

### क्या परिवार एक समिति है (Is Family an Association)

परिवार को कुछ लोग एक समुदाय मानते हैं जबकि वास्तव में यह एक समिति है। परिवार को समुदाय मानने वालों का कहना है कि व्यक्ति का जीवन जन्म से मृत्यु तक परिवार में ही बीतता है। परिवार में ही बच्चे जन्म लेते हैं, पलते हैं और अपना जीवन व्यतीत करते हैं और अन्त में यहीं उनकी मृत्यु होती है। इस प्रकार व्यक्ति का सारा जीवन परिवार में ही बीतता है। इसलिये परिवार एक समुदाय है, परन्तु यह बात किसी आदिकालीन परिवार के लिए तो सही हो सकती है, आधुनिक परिवार के लिए नहीं। आध निक युग में कुछ निश्चित उद्देश्यों को लेकर परिवार की स्थापना की जाती है। परिवार अपने सदस्यों की कुछ महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य करता है, परन्तु वर्तमान में व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति यहाँ नहीं होती है। यही कारण है कि व्यक्ति परिवार के अलावा अनेक अन्य समितियों का सदस्य बनता है। यद्यपि यह सही है कि परिवार बच्चों के लिए समिति से कुछ अधिक ही है, परन्तु जैसे-जैसे बच्चे बड़े होते जाते हैं, वैसे-वैसे वे नवीन परिवारों की स्थापना और अनेक अन्य समितियों की सदस्यता ग्रहण करते जाते हैं।

### क्या राज्य एक समिति है (Is State an Association)

राज्य एक समिति है। विद्वानों का कहना है कि राज्य की स्थापना कुछ व्यक्तियों के द्वारा कुछ विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सोच-विचार कर की जाती है, अतः राज्य एक समिति है। इसका सम्बन्ध प्रमुखतः समुदाय के राजनीतिक जीवन के साथ पाया जाता है। **मैकाइवर** तथा **पेज** के अनुसार, "राज्य सामाजिक संगठन के एक स्वरूप के रूप में चर्च अथवा व्यापारिक क्लब के सामान ही एक समिति है।" लेकिन राज्य और अन्य समितियों में कुछ अन्तर पाया जाता है। राज्य की सदस्यता व्यक्ति के लिए अनिवार्य है, दूसरी ओर किसी भी समिति की सदस्यता ऐच्छिक होती है। इसके अलावा समिति का कोई निश्चित भू-भाग नहीं होता है जबकि राज्य का अपना एक भू-भाग होता है। भू-भाग समिति की विशेषता नहीं होकर समुदाय की विशेषता है। राज्य की अपनी प्रभुसत्ता या प्रभुत्व-शक्ति होती है। जिसके माध्यम से वह कानून बनाकर एक निश्चित प्रकार का व्यवहार करने के लिए लोगों को बाध्य कर सकता है। प्रत्येक राज्य की अपनी एक सरकार भी होती है जो राज्य के सम्पूर्ण क्षेत्र में कानून और व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। स्पष्ट है कि राज्य अन्य समितियों से एक भिन्न प्रकार की समिति है। इसे विशिष्ट प्रकार की महासमिति (Great Association) माना जा सकता है।

**स्व-प्रगति की जाँच करें :**

1. निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का होना किसी भी समुदाय के लिए क्या अनिवार्य आवश्यकता है?
2. क्या सामुदायिक भावना में 'हम' की भावना को अभिव्यक्ति होती है?
3. प्रत्येक व्यक्ति के लिए किसी न किसी समुदाय का अनिवार्य होना जरूरी होता है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं?
4. जन जातिय समुदाय का अर्थ स्पष्ट करें।

### सारांश

मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है। समाज ही उसकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करता हैं व्यक्ति और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्ति और समाज एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इससे भी अधिक मनुष्य, मनुष्य के बीच ही मनुष्य बनता है। व्यक्ति परिवार के अलावा अनेक अन्य समाज का सदस्य बनता है जो उसके व्यक्तित्व में चार चाँद लगाता है। व्यक्ति जैसे-जैसे बड़ा होता है, वैसे-वैसे नवीन परिवारों की स्थापना और अनेक अन्य समुदायों, समितियों और समाज की सदस्यता ग्रहण करते जाते हैं।

### स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. **निश्चित भौगोलिक क्षेत्र (Definite Geographical Area)**-प्रत्येक समुदाय के एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का होना भी आवश्यक है। जब तक कोई समूह निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास नहीं करता है, तब तक उसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। किसी भी गाँव, नगर

या राष्ट्र को इसीलिए समुदाय कहा जाता है कि इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। एक क्षेत्र विशेष में लम्बे समय तक साथ-साथ रहने और जीवन की सामान्य गतिविधियों में भाग लेने से लोगों से अपनत्व की भावना पनपती है। वे इस समूह विशेष को अपना समूह समझते हैं। निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में एक-दूसरे के निकट रहने के कारण ही लोगों में अन्तःक्रिया की मात्रा बढ़ती है जो सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण की दृष्टि से आवश्यक है।

2. **सामुदायिक भावना (Community Sentiment)**-इसे ''हम की भावना' के नाम से पुकारते हैं। समुदाय के निर्माण के लिए व्यक्तियों के समूह तथा निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के अलावा सामुदायिक भावना का होना भी अत्यंत आवश्यक है। सामुदायिक भावना का तात्पर्य ''हम सब एक हैं', 'यह समुदाय हमारा है', ''यह अन्य समुदायों से भिन्न है', ''इसके सुख-दुख में सभी समान रूप से भागीदार है', ''हम सब दृढ़ता भागीदार है', ''हम सब दृढ़ता के सूत्र में बंधे हुए हैं', आदि से है। सामान्यतः प्रत्येक समुदाय अन्य समुदायों के संदर्भ में एक संगठित इकाई के रूप में कार्य करता है। जब तक किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों में यह सामुदायिक भावना नही पनपती तब तक उसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। जब कुछ लोग लम्बे समय से इकट्ठे साथ-साथ रहते हैं, साथ-साथ कार्य करते हैं, एक-दूसरे के सुख-दुख में भाग लेते हैं, सामूहिक हितों के प्रति जागरूक रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहते हैं तो उनमें ''हम की भावना या सामुदायिक भावना का पनपना स्वाभाविक है।

3. **अनिवार्य सदस्यता (Compulsory Membership)**-प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है। वह किसी न किसी क्षेत्र विशेष में अन्य लोगों के निकट रहता है, उसके साथ अन्तःक्रिया करता है। उसे अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी न किसी क्षेत्रीय-समूह अर्थात् समुदाय में रहना पड़ता है। एक क्षेत्र विशेष में लम्बी अवधि तक अन्य लोगों के साथ रहने में उसमें अपने समुदायों के प्रति एक लगाव या अपनत्व का भाव पैदा हो जाता है। आज के युग में भौगोलिक और सामाजिक गतिशीलता के बढ़ जाने से लोग एक भौगोलिक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चले जाते हैं एक समुदाय को छोड़कर किसी अन्य समुदाय में जाकर रहने लग जाते हैं, परन्तु इतना अवश्य है कि सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है।

4. **जनजातीय समुदाय (Tribal Community)**-सामान्यत: हम जनजातीय समुदाय उसे कहते हैं जिनमें आदिवासी, आदिम जाति या जनजाति के लोग निवास करते हैं। एक जनजातीय समुदाय में रहने वाले व्यक्ति सामान्यतः एक भाषा बोलते हैं, उनकी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है जो अपने समूह को दूसरे समूह से पृथक करती है, जनजातीय समुदाय की अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक स्वायत्ता होती है, यह एक प्रकार का बन्द समाज होता है, इसमें सामाजिक समानता पायी जाती है तथा नातेदारी का महत्व अधिक होता है, इसमें धर्म एवं जादू को भी अधिक महत्व दिया जाता है, इसमें परिवार का अधिक महत्व पाया जाता है तथा गतिशीलता का अभाव एवं स्थिरता की प्रबलता पायी जाती है। दक्षिणी राजस्थान में अनेक गाँव ऐसे हैं जहां कोई एक ही जनजाति या दो तीन जनजातियाँ ही एक समुदाय में रहती है। वे जनजातीय समुदाय के स्पष्ट लक्षणों को अभिव्यक्त करते हैं।

**अभ्यास प्रश्न**

1. समुदाय क्या है? इसका अर्थ एवं परिभाषा दें।
2. समुदाय के आधारभूत तत्वों का वर्णन करें।
3. समुदाय की विशेषताओं पर टिप्पणी लिखे।
4. समुदाय के कितने प्रकार होते हैं? सीमावर्ती समुदाय के उदाहरण दें।
5. समिति क्या है? विवेचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करें।

NOTES

## bdkb&10 lLFkk,¡] vFk] ifjHkk"kk] lLFkk dh mRifÙk

lkekftd lLFkk, fo'okl] 0;ogkjk vkj fj'rk d LFkkfir iVu g tk lkekftd thou dk 0;ofLFkr djr gA ; lLFkk, lekt dh eyHkr vko';drkvk dk ijk dju d fy, ektn g] tl fd fofHkUu lkekftd lnHkk e ljpuk] ekxn'ku vkj 0;oLFkk çnku djukA lkekftd lLFkkvk d lkekU; mnkgj.kk e ifjokj] /ke] f'k{kk] ljdkj vkj vFk0;oLFkk 'kkfey gA

lkekftd lLFkk, fyx vkj uLyh; ekunMk vkj eY;k dk vkdkj nu e egRoi.k Hkfedk fuHkkrh gA mnkgj.k d fy,] ifjokj ,d lkekftd lLFkk g tk cPpk d lekthdj.k e egRoi.k Hkfedk fuHkkrh gA ifjokj og txg g tgk cPp fyx vkj uLy d ckj e lkekftd ekunM] eY; vkj vi{kk, lh[kr gA

gkykfd] lkekftd lLFkk, bl ckr dk çHkkfor djrh g fd ge [kn dk vkj nljk dk dl n[kr g vkj vlekurkvk dk dk;e j[k ldr g ;k mUg pukrh n ldr gA ;g le>uk lokifj g fd lkekftd lLFkk, l ekof'krk vkj lkekftd U;k; dh ifjHkk"kk dk c<kok nu dh fn'kk e dke dju d fy, bu ekunMk vkj eY;k dk dl vkdkj nrh gA lkekftd lLFkk, lkekftd 0;ogkj dk 0;ofLFkr vkj fofu;fer dju d fy, ,d <kpk çnku djrh gA ikp çe[k çdkj dh lkekftd lLFkk, g] ftue l çR;d dh viuh vuBh fo'k"krk, vkj lekt ij çHkko gkrk g&

f'k{kk
ifjokj
/ke
ljdkj
vFk0;oLFkk

## परिचय (Introduction)

व्यक्ति समाज में रहकर अपनी सभी आवश्यकताएँ पूरी करता है। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव ने समितियों का निर्माण किया है। ये समितियाँ समाज द्वारा मान्यता प्राप्त कार्य प्रणाली के आधार पर कार्य करती हैं। समिति व्यक्तियों का समूह है। व्यक्ति समिति की सहायता से अपने लक्ष्यों की प्राप्ति नियमानुसार करता है। समाज में व्यवस्था बनी रहे; इसके लिए मानव ने कार्य-प्रणालियों, नियमों, पद्धतियों आदि का निर्माण किया है। मर्टन का कहना है कि जब लोग सांस्कृतिक लक्ष्य और संस्थागत साधन के अनुसार समाज में कार्य करते हैं तो समाज में आदर्श सन्तुलन होता है। समाज में व्यवहार करने के तरीके, समिति की कार्य प्रणालियाँ, समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके ही संस्था कहलाती है। इनके द्वारा समाज में संतुलन बना रहता है। समाज की व्यवस्था, संतुलन, नियंत्रण आदि के लिए सामाजिक संस्थाओं का होना अत्यंत आवश्यक होता है। अगर समाज में व्यक्ति और समूह अपने-अपने सोच के अनुसार कार्य करेंगे तो अव्यवस्था बढ़ेगी। सभी व्यवस्थित तरीकों से व्यवहार करें, कार्य करें, इसके लिए सामाजिक संस्थाओं का होना अत्यंत आवश्यक है। समिति में मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थापित कार्य-प्रणालियाँ ही सामाजिक संस्थाएँ कहलाती हैं। परिवार एक संस्था है; इसका निर्माण करने के तरीके को विवाह संस्था कहते हैं। संस्था के सम्बन्ध में अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। इसको समझने के लिए उनके विचारों, कथनों तथा वक्तव्यों का अध्ययन करना आवश्यक है।

## संस्था का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of Institution)

संस्था की परिभाषाएँ; अनेक समाजशास्त्रियों-समनर, मैकाइवर और पेज, रॉस, बोगार्डस, ग्रीन, गिलिन और गिलिन, ऑगबर्न और निमकॉफ आदि ने दी है। हम इन समाजशास्त्रियों की परिभाषाओं का विवेचन करेंगे तथा निष्कर्ष निकालेंगे कि संस्था का समाजशास्त्र में क्या अर्थ है? इनकी परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

1. **समनर** ने लिखा है, "एक संस्था अवधारणा (विचार, मत, सिद्धान्त या रुचि) एवम् संरचना का योग है।"
2. **मैकाइवर** ने संस्था की परिभाषा देते हुए कहा है, "संस्था एक निश्चित संगठन है जो विशिष्ट हित अथवा सामान्य हितों को सुनिश्चित तरीके से पूर्ण करती है।
3. **मैकाइवर और पेज**-इन्होंने संस्थाओं को स्थापित कार्य-प्रणालियों के स्वरूपों के रूप में परिभाषित किया है। इन्हीं के शब्दों में, "संस्थाओं से हमारा तात्पर्य स्थापित स्वरूप की कार्य-प्रणाली की उन परिस्थितियों से है, जो सामूहिक क्रिया की विशेषता है।
4. **बोगार्डस** के अनुसार, "एक सामाजिक संस्था समाज की वह संरचना है, जो मुख्यतः सुस्थापित प्रणालियों द्वारा लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संगठित होती है।
5. **ऑगबर्न तथा निमकॉक** ने संस्था की व्याख्या करते हुऐ लिखा है, सामाजिक संस्थाएँ कुछ मौलिक मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित और स्थापित प्रणालियाँ है।'
6. **गिलिन और गिलिन** का कथन है, "सामाजिक संस्थाएँ कुछ सांस्कृतिक विशिष्टताओं को व्यक्त करने वाले वे नियम हैं जिनमें काफी स्थायित्व होता है।'
7. **ग्रीन** के अनुसार, "एक संस्था अनेक जनरीतियों और रूढ़ियों (और प्रायः परन्तु आवश्यक नहीं, कानूनों) का एक इकाई के रूप में संगठन है, जो अनेक सामाजिक कार्यों को करता है।"

8. **सदरलैंड** और साथियों के अनुसार, "समाजशास्त्रीय भाषा में, एक संस्था उन जनरीतियों तथा रूढ़ियों का संग्रह है; जो कुछ मानवीय लक्ष्यों या उद्देश्यों की पूर्ति का केन्द्र है।

पूर्वोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामाजिक संस्थाएँ समाज द्वारा मान्यता प्राप्त व्यक्तियों की मौलिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साधन और कार्य प्रणालियों की संरचना है।

## संस्था की उत्पत्ति और विकास (Original and Evolution of Instituion)

- **डब्ल्यू. जी. समनर** ने अपनी कृति "फोकवेज' में संस्था की उत्पत्ति और विकास को विस्तार से स्पष्ट किया है। इनका कहना है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सरल, सादा और सीध ` तरीके से पूर्ण करना चाहता है। वह आवश्यकता को कम श्रम, कम समय में अधिक से अधिक मात्रा में पूरी करना चाहता है। इसके लिए वह विचार करता है। व्यक्ति के मस्तिष्क में विचार आता है। उस विचार के अनुसार आवश्यकता की पूर्ति करता है। जब व्यक्ति देखता है कि यह तरीका आवश्यकता की पूर्ति का सरल, सादा, सीधा तथा अच्छा है तो वह उस तरीके को बार-बार काम में लाता है। धीरे-धीरे यह तरीका उसकी आदत बन जाती है। दूसरे जन जब देखते हैं वह तरीका अच्छा है तो वे उसका अनुसरण करते हैं और उस व्यक्ति की आदत धीरे-धीरे समूह की आदत बन चुकी होती है तो यह आगे चलकर जनरीति बन जाती है। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है। समय व्यतीत होने के साथ-साथ जनरीति के साथ पूर्वजों का प्रभाव जुड़ जाता है। लोग समझने लगते हैं कि पूर्वजों ने ये तरीके बनाए हैं, इनका हमें पालन करना चाहिए। जब पूर्वजों की भावना का तत्त्व जनरीति के साथ जुड़ जाता है तथा जनरीति प्रथा के रूप में विकसित हो जाती है तो उसे समाज की मान्यता मिल जाती है। जनरीति और प्रथा में मात्रा और समय का अन्तर है। गुण का विशेष अन्तर नहीं है। जनरीति का विकसित रूप ही प्रथा है, ऐसा समनर का मानना है।
- प्रथा ही आगे चलकर रूढ़ि बनती है। समनर ने बताया कि जब प्रथा के साथ समाज की अभिमति और जुड़ जाती है; तब प्रथा के दो प्रकार बन जाते हैं-सकारात्मक और नकारात्मक। सकारात्मक वे तरीके हैं; जिनका पालन करने के लिए समाज बाध्य करता है। नकारात्मक तरीके वे हैं जिनकों समाज अपने सदस्यों को नहीं करने के लिए बाध्य करता है। उल्लंघन करने पर समाज दण्ड देता है। ये सकारात्मक, नकारात्मक और दण्ड की विशेषताएँ ही प्रथा को रूढ़ि में विकसित कर देती है।
- जब रूढ़ियाँ मिलकर एक संरचना में व्यवस्थित हो जाती है; रूढ़ियों का संग्रह व्यवस्थित, क्रमबद्ध और एक संगठित रूप में विकसित हो जाता है तो समाजशास्त्री इसे संस्था के नाम से पुकारते हैं। संस्था रूढ़ियों का व्यवस्थित ढाँचा है। विकसित समाजों में जैसे-नगर, महानगर या राष्ट्र के स्तर पर समाज के चुने हुए प्रतिनिधि; जब बहुमत से इन्हीं संस्थाओं को पारित कर देते हैं तो वह कानून बन जाते हैं और ये कानून औपचारिक और राजनैतिक होते हैं। संस्था समाज द्वारा मान्यता प्राप्त आवश्यकताओं को पूर्ण करने की संरचना होती है।

**संस्था की विशेषताएँ (Characterisites of Instituiton)**-सामाजिक संस्थाओं की विशेषताओं का अनेक समाजशास्त्रियों ने विवेचन किया है। इनमें प्रमुख समाजशास्त्री मैकाइवर और पेज, समनर, गिलिन, बोगार्डस आदि हैं। मुख्य रूप से संस्था की निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

**(1)** **संरचना (Structure)**-समनर, बोगार्डस आदि ने स्पष्ट किया है कि सामाजिक संस्थाएँ समाज की वह संरचना है जो लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। संस्थाएँ मुख्यतः सुस्थापित प्रणालियाँ हैं। जब जनरीतियाँ, प्रथाएँ और रूढ़ियों पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है, समाज द्वारा मान्य

होती है तथा एक ढाँचा या संरचना के रूप में जटिल संगठन बन जाती है तभी समाजशास्त्री (समनर) उसे संस्था कहते हैं। संस्था अनेक कार्य-प्रणालियों से भिन्नता में है क्योंकि इनकी एक संरचना होती है। समनर ने लिखा है, "संस्था....................संरचना का योग है।"

(2) **निश्चित कार्य प्रणालियों की व्यवस्था (Definite system of usages and procedures)**-मैकाइवर और पेज के अनुसार संस्थाएँ स्थापित कार्य प्रणालियों के रूप में होते हैं। मानव समाज में रहकर अपनी अनन्य आवश्यकताओं, हितों, उद्देश्यों आदि को पूरा करना चाहता है। इसके लिए समाज में निश्चित, स्पष्ट और स्थापित, समाज द्वारा मान्यता प्राप्त कार्य प्रणालियों का होना आवश्यक है। जब समाज में ये स्पष्ट रूप से विकसित हो जाती हैं, तभी समाज के सदस्य व्यवस्थित रूप से अपनी इच्छाओं को पूर्ण कर पाते हैं। इन्हीं को मैकाइवर ने संस्था या कार्य प्रणालियाँ कहा है। ऑगबर्न, निमकॉफ, बोगार्डस आदि ने भी कहा है कि संस्थाएँ कुछ मौलिक मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित और स्थापित प्रणालियाँ हैं। संस्था की यह प्रमुख विशेषता है; जो इसे जनरीतियों प्रथाओं तथा रूढ़ियों से विशिष्टता प्रदान करती है।

(3) **संस्था इकाई के रूप में (Institutions are forms of unit)**-सम्पूर्ण सांस्कृतिक संरचना में संस्था का विशेष स्थान है। संस्था सामाजिक, सांस्कृतिक और व्यक्तित्व व्यवस्थाओं में एक इकाई के रूप में कार्य करती है, ऐसा पारसन्स ने अपनी विश्वविख्यात पुस्तक "दी सोशियल सिस्टम' में कहा है। हैमिल्टन का भी ऐसा ही कथन है कि सामाजिक संस्थाएँ समाज में रीति-रिवाजों का एक पुंज है। संस्था अनेक जनरीतियों, प्रथाओं और रूढ़ियों का संगठित, व्यवस्थित और सुनिश्चित प्रतिमान है, एक ऐसी इकाई है जो समाज द्वारा मान्यता प्राप्त है तथा व्यक्तियों को कार्य-प्रणालियों के रूप में सुविधा प्रदान करती है। संस्था एक इकाई के रूप में अनेक जनरीतियों, प्रथाओं तथा रूढ़ियों का विकसित रूप है। यह लिखित, अलिखित तथा किसी भी रूप में समाज में हर काल में विद्यमान होती है।

(4) **अमूर्तता (Abstractness)**-संस्था मानव समाज की कार्य-प्रणालीं है, नियमों की संरचना है, जिसे हम देख नहीं सकते। इसलिए संस्था अमूर्त है। मूर्त नहीं है। संस्था नियमों, रीति-रिवाजों का व्यवस्थित संग्रह है। संस्था सामाजिक व्यवस्था तथा संगठन को बनाए रखती है। व्यक्तियों पर नियंत्रण की व्यवस्था है। संस्था की यह विशेषता स्पष्ट करती है कि यह व्यक्ति के बाहर होती है तथा व्यक्ति पर दबाव रखती है।

(5) **उद्देश्य (Aim)**-मर्टन ने कहा कि मानव के सामाजिक संरचना में उद्देश्य महत्त्वपूर्ण होते हैं। इनकी पूर्ति व्यक्ति को संस्थागत साधनों से करनी चाहिए। प्रत्येक समाज में उद्देश्यों को पूरा करने के लिए निश्चित समाज द्वारा मान्यता प्राप्त संस्थाएँ हैं। पारसन्स का भी यही निष्कर्ष है कि संस्थाओं के निश्चित उद्देश्य होते हैं। मैलिनोव्स्की का कहना है कि प्रत्येक संस्कृति में प्रत्येक संस्था कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण आवश्कता की पूर्ति करती है। संस्था की उत्पत्ति और विकास का इतिहास भी इसी तथ्य को सिद्ध करता है कि प्रत्येक संस्था का कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होता है। विवाह, परिवार, जाति आदि संस्थाएँ समाज में एक या अनेक उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाए हुए हैं।

(6) **प्रतीक (Symbol)**-यह मानव स्वभाव है कि वह प्रत्येक वस्तु, पदार्थ, परम्परा, प्रथा, विचार, ध रणा आदि को कोई-न-कोई नाम दे देता है। उसे पहचानने के लिए प्रतीक प्रदान कर देता है। इसी प्रकार प्रत्येक संस्था का एक निश्चित सर्वमान्य प्रतीक होता है। यह भौतिक, अभौतिक, मानव के

समान पशु, प्राकृतिक वस्तु आदि कुछ भी हो सकता है। उदाहरण के रूप में सूर्य, चन्द्रमा, ''ऊँ', गाय, हँसिया, ''क्रास' आदि।

**(7) स्थायित्व (Permanancy)**-संस्था का विकास बहुत धीमी गति से होता है। इसके विकास में समय भी बहुत लगता है, परन्तु जब संस्था एक प्रतीक, संरचना, अवधारणा, उद्देश्य, कार्यप्रणाली आदि के रूप में विकसित हो जाती है तो उसे बदलना या प्रतिबन्धित करना बहुत कठिन हो जाता है; बाल-विवाह, दहेज, वैधव्य, अस्पृश्यता, पर्दा प्रथा आदि अनेक संस्थाएँ और प्रथाएँ बदलना कितना कठिन हो रहा है। संस्था का स्थायित्व दीर्घकालीन होता है।

**(8) अभिमति और अधिकार (Opinion and Rights)**-संस्थाएँ समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होती हैं। उनका समाज के सदस्य पालन करें इसके लिए संस्था के पीछे सत्ता होती है। उल्लंघन करने वाले को दण्ड दिया जाता है। संस्था मानव समूह द्वारा मान्य होती है। अगर कोई इसका उल्लंघन करता है तो मानव समूह उसे ऐसा करने से रोकता है। व्यक्ति को यह मालूम होता है कि संस्था के पीछे जन समूह की शक्ति है; इसलिए उल्लंघन करने से डरता है। संस्था के पीछे मानव समूह की शक्ति होने के कारण वह प्रभावशाली होती है।

## संस्था का कार्य (Functions of Institution)

संस्था की उत्पत्ति और विकास के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक संस्थाओं के अनेक कार्य हैं। संस्थाएँ मानव के लिए आवश्यकता पूर्ति के साधन हैं। ये परिवर्तन में सहायक, संस्कृति की वाहक, सामाजिक नियन्त्रण के साधन, व्यवहारों में अनुरूपता तथा प्रस्थिति और भूमिका-निर्धारण आदि अनेक कार्य करती हैं। निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य, संस्थाएँ विश्व के सभी समाजों में करती हैं:

**(1) आवश्यकताओं के पूर्ति के साधन (Means of fulfinment of Needs)**-संस्थाएँ मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के महत्वपूर्ण साधन हैं। संस्थाएँ आवश्यकताओं की पूर्ति करने के समाज द्वारा मान्यता प्राप्त साधन हैं। समाज के सदस्य प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा करते हैं कि वह संस्थागत साधनों द्वारा ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करे तथा समाज की व्यवस्था में संतुलन बनाए रखे। अगर संस्थाओं का गहनता से अध्ययन और अवलोकन करें तो यह पाएँगे कि संस्थाएँ आवश्यकताओं की पूर्ति के सरल, सादा और अत्यन्त उपयोगी साधन हैं जो समाज में वर्षों से प्रचलित है।

**(2) व्यवहारों में एक एकरूपता (Homogeneity in Behaviour)**-संस्थाएँ कार्य-प्रणालियाँ हैं जिनका समाज के सदस्यों को पालन करना होता है। समान परिस्थितियों, आवश्यकताओं, समस्याओं, कठिनाइयों आदि में संस्थाएँ व्यक्ति को एक-से तरीके प्रदान करती हैं; जिनके द्वारा वे व्यवहार करें। इस प्रकार संस्थाएँ एक समाज के व्यक्तियों में समानता, एकरूपता या अनुरूपता बनाए रखती है। इससे उनमें यान्त्रिक अथवा जैविक एकता बनी रहती है।

**(3) सामाजिक नियन्त्रण (Social Control)**-समाज की एकता, संतुलन और निरन्तरता के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति के अपेक्षित व्यवहार और वास्तविक व्यवहार में अन्तर कम से कम हो। सामाजिक संस्थाएँ व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करती है। संस्थाएँ सामाजिक नियंत्रण का एक प्रमुख तथा प्रभावशाली साधन हैं। आदिम और ग्रामीण समाजों में तो संस्थाएँ ही सामाजिक नियन्त्रण करती है। धर्म, परिवार, जाति आदि संस्थाएँ समाज को नियन्त्रित, निर्देशित और संचालित करती रही है।

**स्व-प्रगति की जाँच करें :**

1. क्या अमूर्तता संस्था की खाश विशेषता है?
2. क्या अभिमति और अधि कार संस्था की अन्य विशेषता है? अपने विचार स्पष्ट करें।
3. क्या यह जरूरी है कि समाज और संस्कृति के बने रहने के लिए इसके गुणों, ज्ञान और आविष्कार आदि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरण हुआ करे?
4. क्या संस्थाएँ मानव समाज का मार्गदर्शन करती हैं?

(4) **प्रस्थिति और भूमिका-निर्धारण (Determines Status and Role)**-समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए आवश्यक है कि समाज में श्रम विभाजन हो तथा स्तरीकरण हो। व्यक्तियों की प्रस्थिति (पद) और भूमिका (कार्य) निश्चित हो। सभी समाजों में ये महत्वपूर्ण कार्य संस्थाएँ करती हैं। संस्थाएँ सामाजिक विभेदीकरण और स्तरीकरण का कार्य करती हैं। इनके द्वारा व्यक्ति स्वयं का पद और कार्य दोनो स्पष्ट रूप से प्राप्त करता है तथा उनके अनुसार अपने कर्तव्य और अधिकारों के अनुरूप व्यवहार करता है। परिवार में पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, भाई-बहन आदि का पद और भूमिका संस्थाएँ निश्चित करती है। समाज के स्तर पर जाति व्यवस्था, वर्ग व्यवस्था, दास-प्रथा; जागीरदारी प्रथा विभिन्न समूहों को प्रस्थिति और भूमिका प्रदान करती है। संस्था का यह कार्य सामाजिक व्यवस्था के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है।

(5) **संस्कृति का हस्तान्तरण (Transmission of Culture)**-समाज और संस्कृति के बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि इसके गुणों, ज्ञान, आविष्कार आदि का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण हो। सामाजिक संस्थाएँ ये कार्य सदियों से करती आ रही हैं। संस्थाएँ ही संस्कृति की प्रभावशाली वाहक हैं; जो संस्कृति का लेन-देन, प्रसार और प्रचार करती है। संस्थाएँ संस्कृति की रक्षा तथा हस्तान्तरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तथा एक समाज से दूसरे समाज को करती हैं।

(6) **मार्ग-दर्शन (Guidance)**-संस्थाएँ व्यक्ति, समूह और समाज का मार्गदर्शन करती हैं। व्यक्ति को कब, कहाँ, कैसे और क्या करना है? इसका संस्था कदम-कदम पर मार्गदर्शन करती है। जाति-व्यवस्था प्रत्येक जाति के व्यक्तियों को सदस्यता, व्यवसाय, खान-पान, शिक्षा, विवाह, प्रस्थिति आदि सब कुछ व्यक्ति के जन्म के साथ ही निश्चित कर दिया करती थी। उसे हर पल तथा प्रत्येक परिस्थिति में संस्थाएँ मार्गदर्शन करती रहती थीं। इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित संस्थाएँ व्यक्ति का मार्गदर्शन करती हैं। संस्था का यह विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य है।

## सारांश

संस्थाएँ मानव समाज के लिए आवश्यकता पूर्ति के साधन हैं। ये परिवर्तन में सहायक, संस्कृति के वाहक, सामाजिक नियन्त्रण के सघन, व्यवहारों में अनुरूपता, प्रनिचति और भूमिका निर्धारण आदि अनेक कार्य करती हैं।

## स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. **अमूर्तता (Abstractness)**-संस्था मानव समाज की कार्य-प्रणालीं है, नियमों की संरचना है, जिसे हम देख नहीं सकते। इसलिए संस्था अमूर्त है। मूर्त नहीं है। संस्था नियमों, रीति-रिवाजों का व्यवस्थित संग्रह है। संस्था सामाजिक व्यवस्था तथा संगठन को बनाए रखती है। व्यक्तियों पर नियंत्रण की व्यवस्था है। संस्था की यह विशेषता स्पष्ट करती है कि यह व्यक्ति के बाहर होती है तथा व्यक्ति पर दबाव रखती है।

2. **अभिमति और अधिकार (Opinion and Rights)**-संस्थाएँ समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होती हैं। उनका समाज के सदस्य पालन करें इसके लिए संस्था के पीछे सत्ता होती है। उल्लंघन करने वाले को दण्ड दिया जाता है। संस्था मानव समूह द्वारा मान्य होती है। अगर कोई इसका उल्लंघन करता है तो मानव समूह उसे ऐसा करने से रोकता है। व्यक्ति को यह मालूम होता है कि संस्था के पीछे जन

समूह की शक्ति है; इसलिए उल्लंघन करने से डरता है। संस्था के पीछे मानव-समूह की शक्ति होने के कारण वह प्रभावशाली होती है।

3. **संस्कृति का हस्तान्तरण (Transmission of Culture)**-समाज और संस्कृति के बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि इसके गुणों, ज्ञान, आविष्कार आदि का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण हो। सामाजिक संस्थाएँ ये कार्य सदियों से करती आ रही हैं। संस्थाएँ ही संस्कृति की प्रभावशाली वाहक हैं; जो संस्कृति का लेन-देन, प्रसार और प्रचार करती है। संस्थाएँ संस्कृति की रक्षा तथा हस्तान्तरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तथा एक समाज से दूसरे समाज को करती हैं।

4. **मार्ग-दर्शन (Guidance)**-संस्थाएँ व्यक्ति, समूह और समाज का मार्गदर्शन करती हैं। व्यक्ति को कब, कहाँ, कैसे और क्या करना है? इसका संस्था कदम-कदम पर मार्गदर्शन करती है। जाति-व्यवस्था प्रत्येक जाति के व्यक्तियों को सदस्यता, व्यवसाय, खान-पान, शिक्षा, विवाह, प्रस्थिति आदि सब कुछ व्यक्ति के जन्म के साथ ही निश्चित कर दिया करती थी। उसे हर पल तथा प्रत्येक परिस्थिति में संस्थाएँ मार्गदर्शन करती रहती थीं। इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित संस्थाएँ व्यक्ति का मार्गदर्शन करती हैं। संस्था का यह विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य है।

## अभ्यास प्रश्न

1. संस्था क्या होती है? संस्था का अर्थ स्पष्ट करें एवं इसकी परिभाषाएँ दें।
2. संस्था की उत्पत्ति, विकास एवं विशेषताओं पर निबंध लिखो।
3. संस्था के कार्यों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

## bdkbl&12 lkekftd leg vFkZ] ifjHkk"kk] fo'k"krk] çkFkfed o f}rh;d leg

lkekftd foKku e] ,d lkekftd leg dk nk ;k nk l vf/kd ykxk d :ieifjHkkf"kr fd;k tkrk g tk ,d nlj d lkFk ckrphr djr g] leku fo'k"krkvkdk lk>k djr g] vkj lkefgd :i l ,drk dh Hkkouk j[kr gA[1][2]f lkekftd leg vl[; vkdkj vkj fdLek e vkr gA mnkgj.k dfy,] ,d lektdk ,d cM lkekftd leg d :i e n[kk tk ldrk gA ,d lkekftdleg dHkhrj ;k lkekftd legk d chp gku oky 0;ogkj vkjeukoKkfud çfØ;kvk dhç.kkyh dk leg xfr'khyrk d :i e tkuk tkrk gA ,d lkekftd leg d lnL; fu;fer :i l ,d nlj d lkFkvrfØ;k djr g] lkekftd lc/k LFkkfir djr gA lnL; vDlj leku #fp;k] eY;] y{; i "BHkfe lk>k djr gA lnL; leg d lkFk tMko vkj igpku dh Hkkouk eglldjr gA ,d leg d Hkhrj lc/k doy vkdfLed ifjfpr kl vf/kdgkr g; o vrfØ;k vkj vU;kU;kfJrrk dh fo'k"krk j[kr gA lkekftd legk d ekunM] Hkfedk,] vkj ljpuk, gkrh g tk mud lnL;k d 0;ogkj vkj vrfØ;kvk dk fu;f=r djrh gA lkekftd leg viuiu vkj lkFk dh Hkkouk çnku djr g] ftllbu Hkkoukvkdk de dju e enn feyrh gA leu fopkj/kkjk oky 0;fä;k d lkFk tMdj]çfrHkkxh lkFkd lc/k cuk ldr g] vuHko lk>k dj ldr g vkj ,d lgk;rkuVod cuk ldr g tk mud thou dk le) cukrk gA

## परिचय (Introduction)

मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के साथ-साथ किसी न किसी समूह का सदस्य भी होता है। अन्य शब्दों में मनुष्य का जीवन एक सामूहिक जीवन है। प्रत्येक मनुष्य की कुछ न कुछ आवश्यकताएँ अवश्य होती हैं और इन आवश्यकताओं की पूर्ति वह किसी न किसी समूह का सदस्य बनकर ही करता है। जी. के. अग्रवाल के शब्दों में आज के जटिल समाज में कोई भी व्यक्ति कुछ समूहों का सदस्य बने बिना अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। विभिन्न क्षेत्रों में इन आवश्यकताओं को पूरा करने वाले समूहों की संख्या इतनी अधिक है कि सरलता से उनका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि" समूह' शब्द से किसी व्यवस्था का बोध नहीं होता, बल्कि यह कुछ व्यक्तियों का संग्रह है; जिनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत सीमित होती है। समूह की विशेषता यह है कि इनके सदस्य किसी न किसी आधार पर एक-दूसरे से घनिष्ठता का अनुभव करते है और दूसरे समूह से अपनी पृथकता बनाये रखने के लिए कुछ विशेष प्रकार के प्रतीकों (Symbols) को विकसित करते हैं। इस दृष्टिकोण से अत्यधिक संक्षेप में कहा जा सकता है कि सामाजिक समूह एक प्रकार का संगठन है जिसके सदस्य एक-दूसरे को जानते हैं और वैयक्तिक रूप से एक-दूसरे से अपनी पहचान (Identification) स्थापित करते हैं। इस प्रकार स्वयं अपने समाज में हम" समूह' शब्दों का प्रयोग कुछ व्यक्तियों के संगठन के लिए करते हैं; जिसमें परिवार, भीड़, सामाजिक वर्ग, विभिन्न प्रजातियाँ, धार्मिक अथवा व्यावसायिक वर्ग, विभिन्न शारीरिक अथवा मानसिक योग्यता के व्यक्ति आदि सम्मिलित किए जा सकते हैं।

## सामाजिक समूह का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Social Group)

समूह व्यक्तियों का एक ऐसा एकत्रीकरण है, जिसका निर्माण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर व्यवहार करते हैं तथा यह व्यवहार सामान्य लक्ष्य या उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होता है, तब मनुष्यों के लिए इस एकत्रीकरण को सामाजिक प्राणियों (मनुष्यों) का एक संग्रह कहते हैं; जिनके बीच किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है। समूह वास्तव में व्यक्तियों का एक झुण्ड होता है जिसका सबसे छोटा रूप वह है जिसमें केवल दो व्यक्ति होते हैं; जैसे-पति-पत्नी, माँ-बेटी, शिक्षक-विद्यार्थी आदि। इस मानव झुण्ड या समूह का विस्तृत रूप भी हो सकता है; जैसे-क्लब, स्कूल, जाति, प्रजाति, राष्ट्र आदि। परन्तु केवल व्यक्तियों का समूह कह देने से ही सामाजिक समूह की अवधारणा स्पष्ट नहीं होती। इन व्यक्तियों के बीच कोई न कोई सर्वमान्य हित, उद्देश्य, स्वार्थ या मान्यता भी होना आवश्यक है, क्योंकि इसी आधार पर वे एक-दूसरे से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अतः स्पष्ट है कि दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी सर्वसामान्य हित पर जानकारी, उद्देश्य या मान्यताओं के आधार पर आपस में एक-दूसरे से सम्पर्क करते हैं तो उसे हम 'सामाजिक समूह' कहते हैं।

इस प्रकार समाजशास्त्र में व्यक्तियों के संकलन मात्र को सामाजिक समूह नहीं कहा जाता है। जब कुछ व्यक्ति एक स्थान पर रहते हैं तो उनमें किसी न किसी प्रकार से अन्तःक्रिया (Interaction) होती है, यह अन्तःक्रिया ही समूह का निर्माण करती हैं। सामाजिक समूह के लिए दो प्रमुख तत्त्वों का होना आवश्यक है-प्रथम, सदस्यों में पारस्परिक सम्बन्ध या निकटता का होना और दूसरा एक-दूसरे के प्रति जागरूकता का होना। मनुष्य परस्पर मिलकर कार्य करते हैं और एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं, इस प्रकार व्यक्तियों के प्रभावित होने से समाज का निर्माण होता है।

समाजिक समूहों की परिभाषा-सामाजिक समूह की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है-

**(1)** **मैकाइवर और पेज** के अनुसार, "समूह से हमारा तात्पर्य मनुष्यों के किसी भी ऐसे समूह से है जो सामाजिक सम्बन्धों द्वारा एक-दूसरे से बँधे हों।"

"By group we mean any collection of human beings who are brought into social relationship with one another". -Maciver and Page

**(2)** **ऑगबर्न तथा निमकॉफ** के अनुसार, "जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एक साथ मिलकर रहें और एक-दूसरे पर प्रभाव डालने लगेंगे तो हम कह सकते हैं कि उन्होंने समूह का निर्माण कर लिया है।

"Whenever two or more individuals come together and influence one an-other, they be said to constitute a social group."

Ogburn and Nimkoff, a Handbook of Sociology., p. 172

**(3)** **विलियम्स (Williams)** ने पारस्परिक क्रियाओं के महत्त्व पर बल देते हुए कहा है कि,"एक सामाजिक समूह मनुष्यों के उस निश्चित संग्रह को कहा जाता है जो पारस्परिक अन्तः क्रियाएँ करते हैं और उस अन्तःक्रिया की इकाई के रूप में ही दूसरों द्वारा मान्य होते हैं।'

**(4)** **बोगार्डस** के अनुसार, "एक सामाजिक समूह दो या अधिक व्यक्तियों की एक ऐसी संस्था को कहते हैं; जिनका ध्यान कुछ सामान्य उद्देश्यों पर हो और जो एक-दूसरे को प्रेरणा दें, जिनमें भक्ति हो और जो सामान्य क्रियाओं में सम्मिलित हों।

**(5)** **मैरिल तथा एल्ड्रिज** के अनुसार, "सामाजिक समूह दो या अधिक व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है; जिनमें एक लम्बी अवधि से संचार होता रहता है और जो एक सामान्य प्रकार्य या प्रयोजन के अनुसार कार्य करते हैं।"

## समूह निर्माण के आधार (तत्त्व)

मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं; जिनकी पूर्ति वह अकेले नहीं कर सकता। अतः अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्यों को समूहों का निर्माण करना पड़ता है। इन सामाजिक समूहों को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ भी भिन्न होती हैं। उन विभिन्न आधारों को ज्ञात करना एक जटिल समस्या है, जो समूह निर्माण में सहायक होते हैं। इस पर भी समाजशास्त्रियों ने समूह निर्माण के कुछ आधारों का उल्लेख किया है, जैसे-समूह चेतना, सामान्य हित, समान भाषा, शारीरिक निकटता तथा सामान्य नियम आदि।

सोरोकिन (Sorokin), जिम्मरमेन (Zimmermen) तथा गिलिन (Gillin) ने समूह के निर्माण हेतु निम्नलिखित आधारों का उल्लेख किया है-

(1) रक्त सम्बन्ध (2) विवाह (3) धर्म में समान आस्था या विश्वास रखना (4) भाषा की समानता (5) रूढ़ियों व रीति-रिवाजों में समानता (6) एक ही भूमि पर निवास तथा पालन-पोषण (7) पड़ौस (8) सामान्य उत्तरदायित्व (9) सामान्य व्यवसाय (10) एक सामाजिक संस्था से सम्बन्धित होना (11) एक ही स्वामी के अधीन कार्य करना, (12) परस्पर सहयोग (13) सामान्य शत्रु (14) एक साथ रहकर कार्य करना।

## सामाजिक समूह की विशेषताएँ

सामाजिक समूह की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

(1) **व्यक्तियों का संगठन**-समूह के लिए व्यक्तियों का होना परम आवश्यक है। कोई भी सामाजिक समूह एक व्यक्ति के द्वारा नहीं बन सकता है। इसके लिए कम से कम दो या अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। व्यक्तियों के समूह के मध्य ही अन्तःक्रिया होती है।

(2) **समूह में एकता**-समूह उस समय तक ही कायम रह सकता है, जब तक उसके सदस्यों में एकता की भावना है। एकता के अभाव में समूह का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार समूह के सदस्यों में एकता की भावना का होना परम आवश्यक है।

(3) **समान स्वार्थ की भावना**-समूह के सभी सदस्यों के स्वार्थ समान होते हैं। अतः उनकी भावनाएँ भी एक-सी होती हैं। यदि सदस्यों के स्वार्थ या हित असमान हों तो ऐसी दशा में न सम्बन्धों में दृढ़ता होगी और न समूह में संगठन होगा।

(4) **समान हित व रुचि**-प्रत्येक समूह की स्थापना उन्हीं व्यक्तियों द्वारा की जाती है, जिनकी रुचि व हित समान होते हैं। विरोधी हितों व रूचि वाले व्यक्ति समूह का निर्माण नहीं कर सकते हैं।

(5) **सहयोग की भावना**-समूह के सदस्य परस्पर सहयोग से कार्य करते हैं। इस कारण ही उनमें 'हम की भावना' पाई जाती है। परस्पर सहयोग की भावना समूह की प्रमुख विशेषता है।

(6) **सामाजिक स्तरीकरण फिचर (Fitcher)** के अनुसार, "प्रत्येक समूह की सामाजिक संरचना होती है तथा उस संरचना में व्यक्तियों की स्थिति निर्धारित होती है। प्रत्येक समूह में आयु, व्यवसाय, जाति तथा लिंग के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है।" अन्य शब्दों में, समूह में सभी व्यक्ति समान पदों पर नहीं होते वरन् वे अलग-अलग प्रस्थिति या भूमिका निभाते हैं। समूहों में पदों का उतार-चढ़ाव पाया जाता है।

(7) **ऐच्छिक सदस्यता**-समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। व्यक्ति अपनी रुचियों तथा लक्ष्यों के आधार पर ही किसी समूह का सदस्य बनता है।

(8) **सामाजिक सम्बन्ध**-समूह में केवल व्यक्तियों का होना ही आवश्यक नहीं होता वरन् उनके मध्य प्रेम, सहयोग एवं सहानुभूति तथा त्याग जैसे सामाजिक सम्बन्धों का होना भी आवश्यक है।

(9) **कार्य विभाजन**-प्रत्येक समूह द्वारा लक्ष्य की पूर्ति व अपने कार्य के सुविधाजनक ढंग से संचालन के लिए समूह के सदस्यों में कार्य विभाजन भी किया जाता है।

(10) **सामूहिक आदर्श**-समूह की अन्य विशेषता सामूहिक आदर्श है। प्रत्येक समूह में सामूहिक आदर्श प्रतिमान पाए जाते हैं, जो सदस्यों के व्यवहारों को निश्चित करते हैं तथा उन्हें एक स्वरूप प्रदान करते हैं। समूह के प्रत्येक सदस्य से यह आशा की जाती है कि वह समूह के आदर्शों व प्रतिमानों; जैसे-प्रथाओं, कानूनों, लोकाचारों, जनरीतियों आदि का पालन करें।

(11) **परस्पर जागरूकता**-समूह के सदस्य एक-दूसरे की समस्याओं और कठिनाइयों के प्रति जागरूक रहते हैं। मैकाइवर व पेज ने पारस्परिकता व जागरूकता को समूह के आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है।

(12) **ढाँचा या स्वरूप (Struture)**-प्रत्येक समूह की संरचना का एक ढाँचा होता है अर्थात् उसका संचालन नियम व कार्य प्रणाली द्वारा होता है।

## समूह का अर्थ

समूह मानव के जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वास्तविकता है। मानव अपने जन्म से लेकर मरणावस्था तक विभिन्न प्रकार के समूहों में रहता है और निरन्तर नए-नए समूहों का निर्माण भी करता रहता है। विभिन्न समूहों के माध्यम से ही व्यक्ति का समाजीकरण और व्यक्तित्व का विकास होता है। समूह से अलग किसी भी व्यक्ति के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। मनौवैज्ञानिकों की धारणा है कि व्यक्ति अपनी एक मूल प्रवृत्ति "ग्रिगेरियस इन्सटिंक्ट' (Gregarious Instinct) के कारण ही समूह में रहता है। अलग-अलग विद्वानों ने अपने-अपने तरीके से समूह के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि समूह के अध्ययन के लिए समय-समय पर भिन्न-भिन्न तरीके प्रस्तावित किए हैं। समूह के अर्थ को स्पष्ट करने में चार्ल्स कूले, जोसेफ गिटलर किंग्सले डेविस तथा मैकाईवर व पेज का भी काफी योगदान रहा है। सामाजिक समूह ऐसे व्यक्तियों का संगठन है; जिनके बीच किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है।

**टी. बी. बोटोमोर** (T. B. Bottomore) के अनुसार, सामाजिक समूह व्यक्तियों के उस संकलन को कहते हैं; जिसमें-

(1) विभिन्न व्यक्तियों के मध्य निश्चित सम्बन्ध होते हैं।

(2) प्रत्येक व्यक्ति समूह और उसके प्रतीकों के प्रति सचेत होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि एक सामाजिक समूह का कम से कम प्रारम्भिक ढाँचा और संगठन होता है और उसके सदस्यों की चेतना का मनौवैज्ञानिक आधार होता है। इस प्रकार एक परिवार, गाँव, राष्ट्र, मजदूर संगठन अथवा राजनीतिक दल एक सामाजिक समूह है।

## समूहों का वर्गीकरण-कुछ प्रकार (Classification of Groups & Few Types)

समाज में उपस्थित अनेकों समूहों का वर्गीकरण करना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इसके उपरान्त भी समाजवेत्ताओं ने विभिन्न आधारों पर बने मानव समूहों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है-

**(1) सदस्यों की संख्या के आधार पर-**विभिन्न समूह छोटे भी हो सकते हैं व बड़े भी। उन समूहों में सामाजिक सम्बन्ध किस प्रकार के होंगे। यह उस समूह के सदस्यों की संख्या पर निर्भर होता है। जार्ज सिमेल, जॉनसन तथा होमसन्स ने छोटे समूहों को समाज के आधार के रूप में महत्त्वपूर्ण माना है। इन विद्वानों के अनुसार छोटे समूहों के माध्यम से ही समाज में व्यक्तियों के सम्बन्ध में विश्वसनीय जानकारी मिलती है।

**सदस्यों की संख्या के आधार पर मैकाइवर तथा पेज ने राष्ट्र एवं प्रान्त जैसे बड़े समूहों का उल्लेख किया है।**

**होमन्स** ने भी पांच छोटे समूहों का अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला है कि मानव की समाज में ऐतिहासिक निरन्तरता केवल छोटे समूहों के रूप में कायम रही है।

**मर्टन** ने अन्तःक्रिया की कमी के कारण राष्ट्र को समूह के रूप में स्वीकार नहीं किया है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि एक राष्ट्र के सदस्यों में"हम की भावना पाई जाती है और साधरणतः लोग राष्ट्रीय हितों के प्रति सचेत रहते हैं। व्यापार, गिल्ड्स, धर्म, वर्ग, राष्ट्र, साम्राज्य, संस्कृतियाँ, सभ्यताएँ सभी समय-समय पर विघटित की गई हैं, उन्हें नष्ट किया गया है व तोड़ा गया है। इतना होने पर प्रत्येक समाज ने विघटन के मध्य भी अपने अस्तित्व को बनाए रखा है।

(2) **स्थायित्व के आधार पर समूहों को स्थायी अथवा अस्थायी समूहों के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है**-कुछ समूह सार्वभौमिक प्रवृत्ति वाले होते हैं। ऐसे समूहों में परिवार, नातेदारी, समूह तथा शिक्षण संस्था आदि की हर समय आवश्यकता बनी रहती है। ऐसे समूह स्थिर समूह कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अस्थिर समूह भी होते हैं, जैसे-भीड़ अथवा श्रोता समूह जो बहुत कम समय के लिए समूह के रूप में बने रहते हैं। कुछ समूह ऐसे भी होते हैं जो किसी विशेष उद्देश्य को लेकर बनाये जाते हैं और उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं।

(3) **समनर ने हम की भावना के आधार पर समूहों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है**-समनर ने हम की भावना के आधार पर समूह को दो भागों में विभाजित किया है-

(i) अन्तः समूह (In-group) (ii) बाह्य समूह (Out-group)

समनर के अनुसार अन्तःसमूह के सदस्यों में आपस में हम की भावना पाई जाती है इसी कारण इस समूह में सदस्यों की एकता दिखाई पड़ती है। अन्तः समूह के सदस्य अपने समूह को श्रेष्ठ व दूसरे समूह को अपने आपसे हीन समझते हैं। इस समूह के सदस्य व्यवहार के सामान्य नियमों का पालन करते हैं और इन्हीं नियमों के आधार पर वे एक-दूसरे से बँधे रहते हैं।

इसी प्रकार बाह्य समूह का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इस समूह में भी अन्तःसमूह के समान विशेषताएँ पाई जाती हैं। अन्तःसमूह व बाह्य समूह ''हम' व'' वे' की भावना पर आधारित होते हैं।

इन दोनों ही समूहों का कोई निश्चित आकार नहीं होता है, यह छोटे से छोटे और विश्व जैसे विस्तृत भी हो सकते हैं। अन्तःसमूह के अन्तर्गत वे सभी लोग आ जाते हैं, जिन्हें हम अपना समझते हैं तथा जिन्हें ''हम' सर्वनाम द्वारा सम्बोधित करते हैं। जिन समूहों को हम अपना नही समझते हैं अर्थात् वह ''वे' सर्वनाम से सम्बोधित किए जाते हैं, वे बाह्य समूह के अन्तर्गत आते हैं। अन्तःसमूह के सदस्यों का आपस में मैत्रीपूर्ण व्यवहार रहता है, लेकिन उनमें बाह्य समूह के प्रति घृणा व प्रतिद्वन्द्विता की भावनाएँ पाई जाती हैं।

**ऑगबन तथा निमकॉफ** के अनुसार, **"हम में अपने अन्तःसमूह के सदस्यों के लिए सहानुभूति तथा सहकारिता की भावना पाई जाती है जबकि इसके विपरीत बाह्य समूह के सदस्यों के प्रति विरोध, घृणा व प्रतिद्वन्द्विता तथा असहयोग की भावना पाई जाती है।"**

(4) **प्रकार्यात्मक आधार पर**-व्यक्तियों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के समूहों का निर्माण किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति की शैक्षणिक, व्यावसायिक, राजनैतिक, बौद्धिक, कलात्मक एवं मनोरंजनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति इसी आधार पर बने समूहों के माध्यम से होती है। नगरों में व्यावसायिक संघ, क्लब, राजनैतिक मण्डल, शिक्षण संस्थाएँ व संगीत मण्डल आदि होते हैं। गिडिंग्स तथा गिलिन और गिलिन आदि विद्वानों ने इन समूहों को ऐच्छिक तथा अनैच्छिक नाम से सम्बोधित किया है।

(5) **औपचारिक एवं अनौपचारिक समूह (Formal and Informal Groups)**-समूह का वर्गीकरण औपचारिक व अनौपचारिक के रूप में भी किया जाता है। औपचारिक समूहों की स्थापना कुछ निश्चित नियमों के आधार पर की जाती है। इन समूहों की स्थापना किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती है। औपचारिक समूहों के सदस्यों में परस्पर घनिष्ठता व आत्मीयता का अभाव पाया जाता है तथा समूहों के नियमों द्वारा उन पर नियंत्रण रखा जाता है एवं नियमों का उल्लंघन करने वाले को समूह से बहिष्कृत करके दण्डित किया जाता है। औपचारिक समूह के अन्तर्गत विभिन्न

राजनैतिक दल, श्रम संगठन, विद्यार्थी परिषद, कॉलेज-स्कूल आदि आते हैं। औपचारिक समूहों में सदस्य अधिक होते हैं। अतः इनका आकार बड़ा होता है। इन समूहों में व्यक्ति के कार्यों को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है। औपचारिक समूहों का निर्माण विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है।

**अनौपचारिक समूह** प्राथमिक समूहों के बहुत अधिक निकट होते हैं। इन समूहों में सदस्यों की संख्या कम व आकार छोटा होता है। अनौपचारिक समूहों के सदस्यों में, आत्मीयता, घनिष्ठता शारीरिक समीपता, सम्बन्धों में स्थिरता व निरन्तरता पाई जाती है। इन सदस्यों में हम की भावना बहुत अधिक होती है। इस प्रकार के समूहों में परिवार, पड़ौस, मित्र-मण्डली, गपशप समूह, रिश्तेदारी आदि समूह आते हैं।

**औपचारिक व अनौपचारिक** समूहों के भेद को हम प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों में पाये जाने वाले अन्तर के आधार पर समझा सकते हैं।

**(6) आकांक्षा का आधार (सन्दर्भ समूह)**-यह समूह निर्धारण का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण आधार है। मर्टन ने इस आधार पर "संदर्भ समूह' की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। मर्टन ने इस समूह को संदर्भ समूह माना है जिसका कोई व्यक्ति सदस्य तो नहीं है परन्तु सदस्य बनने की आकांक्षा रखता है। यह आकांक्षा उसकी मनोवृत्ति, मूल्यांकनों व व्यवहारों को प्रभावित करती है।

**मर्टन** का मानना है कि सापेक्षहीनता के कारण सन्दर्भ समूह का निर्माण होता है। सापेक्षहीनता का अर्थ यह है कि व्यक्ति के मन में अपने समूह के प्रति हीनता का भाव उत्पन्न होता है और वह किसी दूसरे समूह को अपने आपसे ऊँचा समझने लगता है, उसको अपने समूह से अधिक श्रेष्ठ समझने लगता है। जिस समूह को वह श्रेष्ठ समझता है, उसका वह सदस्य बनना चाहता है और उस समूह की मान्यताओं के अनुसार ही व्यवहार करने व जीवन के तरीकों को अपनाने का प्रयत्न करने लगता है। अतः कह सकते हैं कि सन्दर्भ समूह केवल सापेक्षहीनता के कारण ही नहीं बनते हैं बल्कि महत्वाकांक्षा के कारण भी बनते हैं।

**(7) सामाजिक सम्बन्धों का आधार**-सामाजिक सम्बन्धों का आधार समूहों के वर्गीकरण का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। इसमें सामाजिक सम्बन्धों की गहनता के आधार पर समूहों का वर्गीकरण किया जाता है। चार्ल्स कूले (Charles Colley) ने सम्बन्धों की घनिष्ठता के आधार पर **"प्राथमिक समूहों'** की अवधारणा को प्रतिपादित किया है। इसके बाद के समाजशास्त्रियों ने प्राथमिक समूहों से भिन्न विशेषताओं वाले समूह को द्वैतीयक समूह के नाम से सम्बोधित किया है।

मैकाईवर एवं पेज (Maciver and Page) ने हितों की पूर्ति, भू-भाग, सदस्यों के सामान्य व्यवहार, आर्थिक स्तर, अवसर की भिन्नता, परिस्थिति, प्रतिष्ठा एवं शारीरिक लक्षण आदि को आधार मानकर समूह का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इनके वर्गीकरण के तीन प्रमुख आधार हैं-

(1) हित-चेतन संगठन, जिनका स्पष्ट और निश्चित संगठन है (Interest conscious unities पड़ौसी with definite oranization); जैसे-मित्र मण्डली, खेल के साथी, क्लब के सदस्य, आदि।

(2) संयुक्त प्रादेशिक इकाइयाँ (Inclusive Territorial Unities), जैसे-जनजाति, गाँव, पड़ौस, समुदाय आदि।

(3) हित-चेतन इकाइयों वाले समूह; जिनका संगठन स्पष्ट नहीं होता है। (Group based on interest conscious unities without definite oranization) जैसे-प्रतिस्पर्द्धा, वर्ग, भीड़, अभिजात वर्ग, आदि।

मानव जीवन अनेक प्रकार के समूहों में व्यतीत होता है। उसकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति तथा व्यक्तित्व के विकास में समूहों का अपना विशेष योगदान रहता है। प्राथमिक तथा द्वितीयक दोनों ही प्रकार के समूह सामाजिक जीवन में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। सर्वप्रथम हम प्राथमिक समूहों के महत्त्व पर प्रकाश डालेंगे और तत्पश्चात् द्वितीयक समूहों के महत्त्व की विवेचना करेंगे।

प्राथमिक समूह मानव और समाज के मध्य एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का कार्य करते हैं। एल. ब्रूम (L-Broom) के अनुसार, ये समूह मनुष्यों में एकता की भावना उत्पन्न करते हैं, क्योंकि इससे मनुष्य समूह-शक्ति का अनुभव करता है तथा शारीरिक व मानसिक सुरक्षा का अनुभव करता है। व्यक्ति परस्पर हित-चिन्तन करते हैं तथा किसी कार्य को मिल-जुलकर पूरा करने का प्रयास करते हैं।

समाज का सम्पूर्ण संगठन; नैतिकता, कानून और संस्थागत नियंत्रण व्यक्ति को इतना प्रभावित नहीं करते हैं, जितना की प्राथमिक समूहों के सामान्य नियम व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। इस कारण ही प्राथमिक समूहों को मानवीकरण करने वाला सबसे प्रमुख अभिकर्ता कहा गया है। जी.के. अग्रवाल के शब्दों में,"व्यक्तियों की मनोवृत्तियों, आदतों और रुचियों को प्रभावित करने में भी प्राथमिक समूह महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। प्राथमिक समूह व्यक्ति में आत्मसम्मान, सामाजिक दृढ़ता और नैतिकता की भावना को विकसित करते हैं और इस प्रकार व्यक्ति का समाजीकरण करके उसे समाज की एक उपयोगी इकाई बनाते हैं।" प्राथमिक समूहों को कूले ने मनुष्य का मानवीकरण (humanisation) करने वाला एक शक्तिशाली एजेण्ट कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जैवकीय रूप से प्रत्येक मनुष्य में लालसा (lust), लालच, सत्ता (dominance) और प्रतिशोध जैसी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं; जिनका दमन करके ही मनुष्य को एक वास्तविक मानव बनाया जा सकता है। प्राथमिक समूह इन प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखते हैं "पाशविक प्रेरणाओं का मानवीकरण करना ही प्राथमिक समूहों द्वारा की जाने वाली सम्भवतः सबसे बड़ी सेवा है।"

प्राथमिक समूह सामाजिक नियंत्रण तथा व्यक्तित्व विकास में भी सहायक होते हैं। श्री मुकर्जी के अनुसार, 'मनुष्य जीवन का प्रारम्भ प्राथमिक समूहों से होता है। मोटे रूप में इन्हीं प्राथमिक समूहों से उसे अपनी प्रकृति तथा व्यक्तित्व के निर्माण के लिए कच्चा माल प्राप्त होता है। इस रूप में प्राथमिक समूह व्यक्ति के व्यवहारों के निर्धारक या निर्णायक बन जाते हैं। और भी स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि इन्हीं समूहों के माध्यम से व्यक्ति सर्वप्रथम सामाजिक गुणों को सीखता है, अपनी आदतों तथा मनोवृत्तियों का बनाता है तथा व्यवहार, सहानुभूति, सहयोग, त्याग, आज्ञाकारिता, सद्भावना, स्नेह, प्रेम आदि का पाठ पढ़ता है।"कहना न होगा कि जीवन के प्रारम्भ में पनपे ये गुण जीवन-भर व्यक्ति के व्यवहारों को दिशा प्रदान करते हैं और इस रूप में ये समूह सामाजिक नियंत्रण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। साथ ही, प्राथमिक समूहों में ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है तथा उसे अपने समाज की रूढ़ियों, परम्पराओं, प्रथाओं आदि सांस्कृतिक विशेषताओं का ज्ञान होता है। ये सभी सांस्कृतिक विशेषताएँ सामाजिक नियंत्रण के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इतना ही नहीं, इन समूहों में व्यक्ति के व्यवहारों व कार्यों पर नियंत्रण करने की शक्ति भी अधिक होती है।" उदाहरण के लिए परिवार में माता-पिता बच्चों के व्यवहारों को नियंत्रित करते हैं। वास्तविकता तो यह भी कि प्राथमिक समूह अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से सामाजिक नियंत्रण में अपना योगदान देते हैं। शायद इसी कारण श्री कूले ने प्राथमिक समूहों को 'मानव स्वभाव के धायगृह (Nursery of Human Nature) की संज्ञा दी है।

प्राथमिक समूहों के अतिरिक्त द्वितीयक समूह भी समाज में अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। यदि परिवर्तन न हो तो समाज का विकास नहीं हो सकता है। परिवर्तन प्रकृति के नियम के साथ-साथ समाज की प्रकृति भी है। मनुष्य परिवर्तन पसन्द करता है और अपने दैनिक जीवन में इसका उपयोग भी करता है। द्वितीयक समूह व्यक्ति में भविष्य के प्रति आस्था विकसित करके परिवर्तन को प्रोत्साहित करते हैं। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अधिकतम भौतिक सुख के उपयोग पर बल देता है, जो परम्परागत रूढ़िवादी विचारधारा के विपरीत है। अतः द्वितीयक समूह सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा देकर समाज की प्रगति में सहायता पहुँचाते हैं।

द्वितीयक समूह के महत्व पर प्रकाश डालते हुए एक विद्वान लिखते हैं-

"द्वितीयक समूहों ने पिछड़े और रूढ़िवादी लोगों को जागरूक बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। ऐसा इसलिए होता है कि द्वितीयक समूह परम्परा पर आधारित न होकर विवेक और तर्क को अधिक महत्त्व देते हैं। इस कारण इन समूहों में रहकर व्यक्ति का दृष्टिकोण अधिक तार्किक बन जाता है। आज द्वितीयक समूहों के प्रभाव से ही अनेक उपनिवेशवादी समाजों को अपनी दमनकारी नीति को छोड़ना पड़ा है। भारत में भी आज हम द्वितीयक समूहों में रहकर ही अपने अधिकारों के प्रति इतने सचेत हो सके हैं, अन्यथा प्राथमिक समूहों के सीमित दायरे में रहने से हम कभी भी गुलामी की जंजीरों को न तोड़ पाते। इसके अतिरिक्त स्त्रियों की वर्तमान उन्नति और श्रमिक वर्ग को प्राप्त होने वाले अधिकार भी द्वितीयक समूहों के कारण ही सम्भव हो सके हैं।"

## प्राथमिक समूह

चार्ल्स कूले ने 1909 ई0 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सामाजिक संगठन (Social Organization) में प्राथमिक समूह की अवधारणा का प्रतिपादन किया था।

कूले ने वस्तुतः एक समूह का वर्णन किया है तथा उसे प्राथमिक समूह के नाम से पुकारा है। इस समूह से भिन्न विशेषताएँ रखने वाले समूहों को बाद में द्वितीयक समूह कहा गया है। प्राथमिक समूह समनर के अन्तःसमूह तथा द्वितीयक बाह्य समूह की ही भाँति है। इन्हीं विशेषताओं वाले समूहों का वर्गीकरण टॉनीज ने जेमिनशैफ्ट और जैसेलशैफ्ट के नाम से प्रस्तुत किया है।

## प्राथमिक समूह का अर्थ तथा परिभाषा (Meaning and Definition of Primry Group)

जिस समूह में प्राथमिक सम्बन्ध पाए जाते हैं उसे प्राथमिक समूह कहते हैं। इस प्रकार प्राथमिक समूहों के सदस्यों में घनिष्ठता होती है और वे परस्पर एक-दूसरे के सम्मुख आकर मिलते-जुलते हैं। श्री आर. मुकर्जी के अनुसार, "प्राथमिक समूह वास्तव में आमने-सामने (Face to face) का एक छोटा समूह होता है और समूह का आकार पर्याप्त छोटा होने के कारण इसके सदस्यों में परस्पर अत्यधिक घनिष्ठ तथा सहयोगी सम्बन्ध, सहानुभूति तथा सद्भावना देखने को मिलती है। विचारों, उद्देश्यों तथा आदर्शों की समानता के कारण सदस्यों का व्यक्तित्व समूह के व्यक्तित्व में इस भाँति घुल-मिल जाता है कि मैं-मैं का चक्कर समाप्त हो जाता है और "हम की भावना' का जन्म हो जाता है। इसी से सहानुभूति तथा पारस्परिक एकरूपता की भावना पनपती है। व्यक्ति सब लोगों की भावनाओं को दृष्टि में रखते हुए प्राथमिक समूह का सदस्य बना रहता है और उन्हीं भावनाओं में अपने मुख्य उद्देश्यों को पूरा होते देखता है, अर्थात् वह प्राथमिक समूह के अन्य सदस्यों के सुख-दुख को ही अपना सुख-दुख मान लेता है। परिवार, बच्चों के खेल के साथियों के

समूह, पड़ौस या वयस्कों के समूह आदि प्राथमिक समूहों के उदाहरण हैं।

विभिन्न विद्वानों ने प्राथमिक समूह की निम्नलिखित परिभाषा दी हैं-

(1) कूले के अनुसार, "प्राथमिक समूहों से मेरा अभिप्राय उन समूहों से हैं, जिनकी प्रमुख विशेषता आमने-सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग की भावना है। ये समूह अनेक प्रकार से प्राथमिक हैं, लेकिन प्रमुख रूप से इस अर्थ में कि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों का निर्माण करने में मौलिक हैं। मनौवैज्ञानिक रूप से इन घनिष्ठ सम्बन्धों के फलस्वरूप सभी के व्यक्तित्वों का एक सामान्य सम्पूर्णता में इस प्रकार मिल जाना है कि अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक ही व्यक्ति के विचार और उद्देश्य सम्पूर्ण समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य बन जाता है। इस सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति करने के लिए सम्भवतः सबसे सरल ढंग यह है कि इसे "हम' शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाए। इस सम्पूर्णता में इस प्रकार की सहानुभूति और पारस्परिक एकरूपता की भावना पाई जाती है; जिसके लिए "हम' एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।"

"By Primary group, I mean those characterised by intimate face to face association and co-operation. They are primary in serveral senses but chiefly in that they are fundamental informing the social nature and ideals of the individual. The result of intimate association, psychologically, is a certain fusion of individualties in a common whole, so that one's very, for many purpose at least, is a common life and purpose of the group. Perhaps the simplest way. To describeing this wholeness is by saying that it is 'we'. It involves the short of sympathy and mutual indentification for which' we' is natural expression."

-C. H. Cooley: Social Organisation.

(2) प्रो. जिस्बर्ट के शब्दों में, "प्राथमिक समूह से हमारा तात्पर्य ऐसे समूह से होता है जो विशेष रूप से सहयोगी तथा जिसके सदस्य एक-दूसरे से पूर्ण रूप से परिचित होते हैं किन्तु विशेष रूप से इन्हें प्रारम्भिक इस कारण कहा जा सकता है क्योंकि वह व्यक्ति की सामाजिक प्रवृत्तियों एवं विचारधारा के निर्माण में मौलिक हैं।

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि प्राथमिक समूह के सदस्यों में परस्पर घनिष्ठ व्यवहार का होना आवश्यक है। इसीलिए इसे आमने-सामने के सम्बन्धों पर आधारित माना गया है; वैसे प्राथमिक समूह में आमने-सामने का सम्बन्ध होना प्रत्येक परिस्थिति में आवश्यक नहीं है, यद्यपि यह एक महत्वपूर्ण लक्षण है। किंग्सले डेविस ने इसके अन्तर्गत कुछ मूर्त समूहों का उल्लेख किया है; जैसे-परिवार, पड़ौस, क्रीड़ा समूह आदि। परीक्षा भवन में परीक्षार्थी और निरीक्षक आमने-सामने के सम्बन्धों में होते हैं पर उनमें आत्मीय या प्राथमिक सम्बन्ध नहीं होता। इसके विपरीत रक्त से सम्बन्धित व्यक्ति आमने-सामने नहीं होते फिर भी उनमें परस्पर सहयोग और सहायता की भावना पाई जाती है।

प्राथमिक समूह प्राथमिक दो दृष्टिकोणों से होते हैं-समय व महत्त्व। समय के दृष्टिकोण से बालक जन्म लेते ही सर्वप्रथम परिवार (प्राथमिक समूह) का सदस्य बनता है। आगे बढ़कर वह पड़ौस समूह तथा स्कूल का सदस्य बनता है।

## प्राथमिक समूहों की विशेषताएँ (Characteristics of Primary Groups)

(1) बाह्य विशेषताएँ (External characteristics)-इन्हें भौतिक विशेषताएँ (Physical Conditions) भी कहा जाता है।

(2) आन्तरिक विशेषताएँ (Internal Characteristics)-ये विशेषताएँ बाह्य विशेषताओं के कारण जन्म लेती है।

### (1) बाह्य विशेषताएँ (मौलिक विशेषताएँ)

प्राथमिक समूह की बाह्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(a) शारीरिक समीपता-प्राथमिक समूह की प्रथम विशेषता यह है कि इसके सदस्य एक-दूसरे के सम्मुख होकर मिलते-जुलते और सम्पर्क स्थापित करते हैं। आमने-सामने देखने और परस्पर वार्तालाप करने से विचारों का आदान-प्रदान होता है और सदस्य एक-दूसरे के निकट आते हैं। इस प्रकार की भौतिक निकटता प्राथमिक समूहों के विकास में परम सहायक होती है।

(b) छोटा आकार-प्राथमिक समूह में साधारणतया सदस्य संख्या कम होती है। यह संख्या जितनी ही कम होगी; आपस में आत्मीय सम्बन्ध उतना ही अधिक विकसित होगा। आत्मीय सम्बन्ध विकसित होने के लिए आवश्यक है कि सदस्य एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानें व पहचानें। जितनी संख्या कम होगी परस्पर आदान-प्रदान उतना ही अधिक होगा। कम संख्या होने पर व्यक्तिगत परिचय आसानी से प्राप्त होगा।

(c) सम्बन्धों की स्थिरता-समूह में व्यक्तियों के सम्बन्धों में निरन्तरता और स्थिरता का होना आत्मीयता और घनिष्ठता के लिए आवश्यक है। जब तक सम्बन्ध स्थिर नहीं होंगे तब तक घनिष्ठ सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि लुढ़कते पत्थर में वजन नहीं होता। परस्पर सम्बन्धों में आत्मीयता और विश्वास उस समय उत्पन्न होता है, जब सम्बन्ध निरन्तर स्थायी रूप से बना रहे।

### (2) आन्तरिक विशेषताएँ (मानसिक विशेषताएँ)

(a) सम्बन्धों की स्वाभाविकता-इस समूह में सम्बन्धों की स्थापना स्वेच्छा से होती है, बलपवूक नहीं।

(b) सम्बन्धों की पूर्णता-प्राथमिक समूहों में व्यक्ति पूर्णतया भाग लेता है। इसका मूल कारण सदस्यों की परस्पर घनिष्ठता है। सदस्यों में परस्पर प्रेम-भावना पर्याप्त मात्रा में विकसित हो जाती है।

(c) उद्देश्यों का समान होना-प्राथमिक समूह में सभी व्यक्तियों के लक्ष्य या उद्देश्य समान होते हैं। एक सी इच्छाएँ तथा विचार होने के कारण आपस में सहायता और सहयोग की भावना विकसित होती है। इनमें चूंकि घनिष्ठता की भावना विकसित हो जाती है, अतः ये एक-दूसरे के कल्याण की बात सोचने लगते हैं। ये समूह के अन्य सदस्यों के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझते हैं तथा एक-दूसरे को अधिकतम लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं; जैसे-परिवार में सभी अपने स्वार्थों को महत्त्व दिये बिना दूसरों की आवश्यकताओं को पूरा करने में लगे रहते हैं। ये पहले दूसरों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, फिर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं।

(d) सम्बन्ध वैयक्तिक होते हैं-प्राथमिक समूह में एक सदस्य का दूसरे से सम्बन्ध व्यक्ति के रूप में होता है; उसके पद अथवा धन के कारण नहीं। उदाहरण के लिए, परिवार में हम किसी व्यक्ति का आदर इसलिए करते हैं क्योंकि वह हमसें आयु, नातेदारी, अथवा अनुभव में बड़ा है, इसलिए नहीं कि वह धनी है अथवा किसी ऊँचे पद पर है।

(e) हम की भावना-प्राथमिक समूह छोटे होते हैं, सदस्यों में घनिष्टता होती है और उनके उद्देश्य में समानता होती है। अतः उनमें "हम की भावना का विकास हा जाता है। प्रत्येक सदस्य में एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति होती है।

(f) सम्बन्ध स्वयं साध्य है-प्राथमिक समूहों में कोई भी आदर्श या सम्बन्ध साधन के रूप में न होकर स्वयं साध्य होता है। यदि विवाह धन प्राप्ति के उद्देश्य से किया गया है तो यह विवाह न होकर अर्थ-पूर्ति का कार्य माना जाएगा। इन समूहों में सम्बन्ध किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए न होकर प्राकृतिक रूप में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार यदि कोई मित्रता स्वार्थपूर्ति के लिए करता है तो उसे हम मित्रता न कहकर स्वार्थपरता कहेंगे। इस प्रकार सम्बन्धों का कोई उद्देश्य न होकर ; वे स्वयं साध्य होते हैं।

(g) सामाजिक नियंत्रण के साधन-प्राथमिक समूहों की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ये सामाजिक नियंत्रण के प्रभावशाली साधन होते हैं। उनके द्वारा अनौपचारिक रूप से सामाजिक नियंत्रण लागू किया जाता है।

## प्राथमिक समूहों का महत्त्व अथवा कार्य (Importance or Functions of Primary Groups)

वास्तव में व्यक्ति के जीवन में प्राथमिक समूहों का अद्वितीय स्थान है। प्राथमिक समूह मानव को मानसिक तथा सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। व्यक्ति के बचपन का पालन भी प्राथमिक समूह ही करता है। व्यक्ति का समाजीकरण भी प्राथमिक समूह द्वारा होता है तथा व्यक्ति पर नियंत्रण भी यही समूह करता है। प्राथमिक समूह की महत्ता स्पष्ट करते हुए गिलिन तथा गिलिन ने लिखा है कि यह हमारे सामाजिक जीवन का मूल है। व्यक्ति का पूर्ण जीवन इसी से प्रारम्भ होता है और इसी में अन्त। बच्चा इसी में सामाजिक अन्तः क्रियाओं (Social interactions) के आधारभूत नमूनों और सिद्धान्तों को सीखता है। प्राथमिक समूह व्यक्ति को सुरक्षा भी प्रदान करता है।

किम्बाल यंग (Kimball Young) का कथन है कि," प्राथमिक समूह मानव संघों के सबसे मौलिक प्रतिनिधि है। सम्भवतः यह उतने ही अधिक प्राचीन है जितना कि स्वयं मनुष्य का जीवन। प्राथमिक समूह सबसे सरल रूप से ऐसे समुदायों का निर्माण करते हैं जो सदैव से व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं को पूरा करने करने में से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।" इसी आधार पर कूलें ने प्राथमिक समूहों को मानव स्वभाव की परिचालिका (Nursery of Human Nature) कहा है। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति और समूह के लिए प्राथमिक समूहों के सामाजिक महत्त्व को निम्नांकित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है।

(1) सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में सहायक-प्राथमिक समूहों का प्रभाव बच्चों के जन्म से ही प्रारम्भ हो जाता है। सबसे पहले बच्चा परिवार में पलता है और परिवार में भाषा, सामाजिक आचार व आदर्श रीति-रिवाज आदि सीखता है। वहीं रक्त, माँस, हड्डी का पुतला वह बच्चा धीरे-धीरे एक सामाजिक प्राणी में बदल जाता है। इस प्रकार परिवार ही; जो एक प्राथमिक समूह है, मनुष्य के व्यक्तिव का आधार या नींव बनाता है।

(2) व्यक्ति और समाज दोनों के लिए लाभप्रद-इनसे व्यक्ति तथा समाज दोनों का विकास तथा संगठन होता है। ये व्यक्ति को जानवर से सामाजिक प्राणी बनाते हैं; अतः व्यक्ति तथा समाज में सम्बन्ध कराने में भी ये अत्यधिक मदद करते हैं। इनकी अनुपस्थिति में व्यक्ति तथा समाज में सामंजस्य होना, उद्देश्यों की एकरूपता होना आदि सम्भव नही है। इसमें व्यक्ति एक-दूसरे के साथ सहयोग करके अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना चाहता है। व्यक्ति के समाजीकरण तथा नियंत्रण में इनका प्राथमिक स्थान है। कूले इसके इसी महत्त्व से प्रभावित होकर इसे मानव जीवन की पोषिका कहते हैं।

(3) व्यवहारों व कार्यों पर नियंत्रण-प्राथमिक समूहों में अपने सदस्यों के व्यवहारों व कार्यों पर नियंत्रण रखने की शक्ति अत्यधिक होती है। उदाहरणार्थ: परिवार में माता-पिता, बड़े भाई आदि बच्चों के व्यवहारों पर नियंत्रण रखते हैं।

(4) आन्तरिक संतोष प्रदान करते हैं-ऐसा इसलिए हो पाता है कि प्राथमिक समूह घनिष्ठ सम्बन्ध वाले समूह होते हैं। मेल-मिलाप, तर्क, वितर्क, हँसी-मजाक, विचार-विनिमय, स्नेह-प्रीति आदि आन्तरिक संतोष हमें प्राथमिक समूहों में ही मिल पाते हैं।

(5) व्यक्ति का समाजीकरण-प्राथमिक समूह व्यक्ति का समाजीकरण करने में सहायक होते हैं। यदि हम सावधानी से देखें तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक मनुष्य में घृणा, लालच, भय, क्रूरता और अनुशासनहीनता की प्रवृत्तियाँ जन्मजात रूप से पाई जाती हैं। प्राथमिक समूह व्यक्ति की इन समाज-विरोधी मनोवृत्तियों पर नियंत्रण लगाए रहते हैं और व्यक्ति को सामाजिक नियमों का पालन करने की प्रेरणा देते हैं।

(6) क्षमता और रुचि का विकास-प्राथमिक समूह अपने सदस्यों से उनकी क्षमता और रुचि के अनुसार कार्य लेते हैं; परिणामस्वरूप प्राथमिक समूह के सदस्यों को अपनी कुशलता और रुचि में वृद्धि करने का अवसर ही नहीं मिलता वरन् उनमें आत्मविश्वास की भावना का भी विकास होता है।

(7) मानवीय गुणों का विकास-मेरिल के मत में प्राथमिक समूहों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य व्यक्ति में सद्गुणों का विकास करना है। प्राथमिक समूह व्यक्ति में सहानुभूति दया, त्याग, प्रेम तथा सहनशीलता जैसे सद्गुणों का विकास करते हैं।

## द्वितीयक समूह

सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि वे सभी समूह द्वितीयक है जिनमें प्राथमिक समूहों की विशेषताएँ नहीं पायी जाती हैं। अन्य शब्दों में द्वितीयक समूह प्राथमिक समूह से पूर्णतया विपरीत होते हैं। प्राथमिक समूह के सदस्य संख्या में थोड़े होते हैं और एक-दूसरे से शारीरिक निकटता रखते हैं तथा नाम भी एक-दूसरे से परिचित होते हैं, परन्तु द्वितीयक समूह के सदस्यों की संख्या अधिक होती है और उनके सम्बन्ध प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष या अप्रत्यक्ष होते हैं। इसके निर्माण के लिए आमने-सामने के सम्बन्धों और घनिष्ठता की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसके सम्बन्ध न तो व्यक्तिगत न स्वयं साध्य और न सम्पूर्ण होते हैं। द्वितीयक समूह की सबसे प्रमुख बात यही होती है कि इसके सदस्यों के सम्बन्ध में घनिष्ठता का अभाव होता है और उनमें'’हम की भावना' नहीं होती है। अन्य शब्दों में इस समूह के सदस्यों के मध्य जो सम्बन्ध होते हैं; वे अवैयक्तिक (Impersonal), आकस्मिक (Casual) तथा औपचारिक (Formal) होते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ, श्रमिक संघ, माध्यमिक शिक्षक संघ, छात्र संघ तथा मैडीकल एसोसिएशन द्वितीयक समूह के उदाहरण हैं।

## द्वितीयक समूह की परिभाषाएँ

**ऑगबर्न** तथा **निमाकॉफ** ने द्वितीयक समूह की परिभाषा इस प्रकार दी है-

"वे समूह जो घनिष्ठता की कमी का अनुभव प्रदान करते हैं; द्वितीयक समूह कहलाते हैं।"(The groups which experience lacking in intimacy are called secondary groups. ") चार्ल्स कूले; के शब्दों में, "ये ऐसे समूह हैं जो कि घनिष्ठता रहित होते हैं, और प्रायः इनमें अन्य प्राथमिक तथा अर्द्ध-प्राथमिक विशेषताओं का भी अभाव रहता है।"

"These are the groups wholly lacking in intimacy of association and usually in most of the other primary and quasi primary characteristics." **---Charles Colley**

इसी प्रकार पी. एल. लेण्डिस के शब्दों में

"द्वितीयक समूह वे होते हैं जो अपने सम्बन्धों में आकस्मिक तथा वैयक्तिक होते हैं, क्योंकि द्वितीयक समूह व्यक्ति से विशेष माँग करते हैं। वे उससे उसकी विश्वासपात्रता का थोड़ा-सा ही अंश प्राप्त करते हैं और उन्हें (द्वितीयक समूहों को) उसके (व्यक्ति) थोड़े से ही समय तथा ध्यान की आवश्यकता होती है।"

इसी प्रकार किंग्सले डेविस ने द्वितीयक समूह की परिभाषा देते हुए कहा है कि-"द्वितीयक समूह परिभाषित किया जा सकता है-प्राथमिक समूहों के बारे में जो कुछ भी कहा जाता है, उसका विपरीत।"

फेयरचाइल्ड ने समाजशास्त्र शब्दकोश में इसे समूह का वह प्रकार बताया है; जिसकी विशेषताएँ प्राथमिक या आमने-सामने के सम्बन्धों वाले समूह से भिन्न हैं। यह एक औपचारिक संगठन है तथा इसमें घनिष्ठता कम पाई जाती है। लुण्डवर्ग ने भी द्वितीयक समूह की इन्हीं विशेषताओं के आधार पर इसे परिभाषित किया है।

इस प्रकार द्वितीयक समूह की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि ये ऐसे समूह हैं जो व्यक्तिगत स्वार्थों पर संगठित हैं। इनकी सदस्यता व्यक्ति अपने स्वार्थ व इच्छा की पूर्ति के लिए ग्रहण करता है, न कि समूह की आवश्यकतानुसार। इनमें सम्बन्ध अप्रत्यक्ष, आकस्मिक और औपचारिक होते हैं; जिसमें छल, कपट, दिखावा, आदि पाया जाता है। इस समूह की सदस्यता का मुख्य आधार लाभ प्राप्त करना होता है।

## द्वितीयक समूह की प्रमुख विशेषताएँ

द्वितीयक समूहों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) द्वितीयक समूह का निर्माण विशेष आवश्यकता पूर्ति हेतु जान-बूझकर होता है। वे अपनी प्रकृति के अनुसार सभी प्रकार के उद्देश्यों को पूरा करने का प्रयास करते हैं।

(2) इसके सदस्यों में शारीरिक निकटता आवश्यक नहीं है।

(3) ये सब व्यक्ति के व्यक्तित्व के किसी एक पक्ष को प्रभावित करते हैं। उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(4) सदस्यों की संख्या भी विशाल होती है।

(5) सदस्य व्यक्तिगत रूप से एक-दूसरे को कम जानते हैं।

(6) इनका निर्माण किसी विशेष उद्देश्य के लिए किया जाता है।

(7) व्यक्ति जैसा कार्य करता है; उसी के अनुसार इन समूहों में उसकी स्थिति बनती है।

(8) इसके सदस्य आत्मनिर्भर होते हैं।

(9) सदस्य का उत्तरदायित्व भी सीमित होता है।

(10) इनका निर्माण मनुष्य द्वारा होता है।

(11) सदस्यों में एकता की भावना कम होती है।

(12) व्यक्तिवादी प्रवृत्ति अधिक होती है।

(13) सामान्यतः इन समूहों में सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होते हैं तथा इनकी स्थापना में संसार के साधनों; जैसे-टेलीफोन, रेडियो, प्रेस, तथा पत्रों आदि का विशेष महत्त्व होता है।

(14) द्वितीयक समूहों की प्रकृति परिवर्तनशील होती हैं। इन समूहों का निर्माण व्यक्ति की आवश्यकताओं के अनुसार होता है। इस कारण व्यक्तियों की आवश्यकताओं में परिवर्तन होते ही इन समूहों के रूप में भी परिवर्तन हो जाता है।

### द्वितीयक समूहों का महत्व

द्वितीयक समूहों का व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन में अत्यधिक महत्त्व है-

(1) श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण-वर्तमान युग श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण का है। औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम करने के लिए अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। ये व्यक्ति पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं तथा एक कार्य अधिक दिनों तक करते-करते उसमें विशेष योग्यता प्रात कर लेते हैं। विशेषीकरण की योग्यता व्यक्ति को द्वितीयक समूहों से प्राप्त होती है।

(2) सामाजिक परिवर्तन द्वारा प्राप्ति-द्वितीयक समूह सामाजिक परिवर्तन द्वारा प्रगति में योगदान देते हैं। यह बात प्रारम्भिक समूहों में नहीं है, क्योंकि ये परिवर्तन में बाधा डालते हैं। इस विषय में यह कथन सत्य है-एक ओर प्राथमिक समूह परिवर्तन पर रोक लगाकर सामाजिक प्रगति में बाधा उत्पन्न करते हैं, लेकिन दूसरी ओर द्वितीयक समूह व्यक्ति को भविष्य के प्रति आशावान बनाकर परिवर्तन को प्रोत्साहन देते हैं। वास्तविकता यह है कि हमारे समाज में आज यदि प्रथाओं, परम्पराओं, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का प्रभाव कुछ कम हो सका है तो इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि द्वितीयक समूहों ने नए व्यवहारों को ग्रहण करने की हमें प्रेरणा दी है। यद्यपि कभी-कभी द्वितीयक समूहों से उत्पन्न परिवर्तन हानिकारक भी हो सकता है, लेकिन भविष्य के लिए प्रगति का खतरा उठाए बिना प्रगति की सम्भावना भी कैसे की जा सकती है? द्वितीयक समूह यह खतरा उठाकर व्यवहारों को अधिक प्रगतिशील बनाने का प्रयत्न करते हैं।

(3) कार्य और व्यवहारों को नियन्त्रित करते हैं-चूँकि आधुनिक समुदाय आकार में बड़े होते हैं और उनमें विभिन्न वर्ग, जाति, सम्प्रदाय व रुचि के लोग रहते हैं तथा स्वार्थों की अधिकतम पूर्ति के लिए आपस में प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। इस कारण उनके व्यवहारों को प्रथा, पड़ौस का डर, पंचायत जैसे प्राथमिक साधनों द्वारा नियन्त्रण में रखना सम्भव नहीं होता है। इसलिए उन पर द्वितीयक समूहों-पुलिस, कोर्ट, सेना आदि द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है।

(4) प्रतिस्पर्द्धा की भावना का विकास-द्वितीयक समूह अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति पर बल देता है; जिससे सदस्य अधिक से अधिक सुख प्राप्त कर सकें। इसमें श्रम को महत्त्व दिया जाता है तथा

मनुष्य को श्रम करने के लिए प्रेरित करता है। निष्क्रिय व्यक्ति प्रतिस्पर्द्धा में भाग नहीं ले सकता। अतः वह समाज में सबसे पीछे हो जाता है। पुरस्कार आदि देकर लोगों को श्रम की महत्ता समझाई जाती है। इस प्रकार द्वितीयक समूह प्रतिस्पर्द्धा की भावना विकसित कर अधिक श्रम करने को बाध्य करता है तथा इसमें समाज का विकास भी होता है।

(5) व्यक्तित्व को प्रभावित करना-व्यक्तित्व के सम्पूर्ण भाग का विकास तो प्राथमिक समूहों में होता है, द्वितीयक समूह तो किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बनाए जाते हैं। द्वितीयक समूह के सदस्यों को किसी एक विशेष क्षेत्र में क्षमता प्राप्त हो सकती है। जैसे-संगीत, नाटक, साहित्य, चित्रकला की गोष्ठियाँ, किसी विशेष हित के लिए निर्मित होती है।

(6) व्यापक आवश्यकताओं की पूर्ति-जैसा कि हम बता चुके हैं, द्वितीयक समूह में कार्यों में विशिष्टता पाई जाती है। छोटे से छोटे कार्यों के लिए द्वितीयक समूह बने होते हैं। इनमें व्यक्ति अपनी योग्यता द्वारा कार्यों को अधिक सुन्दर ढंग से कर लेते हैं। ये समूह विशिष्ट कार्यों को संपादित करते है। भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए विभिन्न प्रकार के द्वितीयक समूह होते है।

## सामाजिक संरचना (Social Structure)

सामाजिक संरचना पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि इसके शाब्दिक अर्थ पर विचार किया जाए। यहाँ हम संरचना शब्द पर विचार करेंगे। श्री मुकर्जी के अनुसार बहुत-सी ईंटों के ढेर को संरचना नहीं कहेंगे। परन्तु यदि इन ईंटों को तरकीब या क्रम से सजा दिया जाए तो इन ईंटों का बाहरी रूप या बनावट हमारे सामने होगी। उसी बनावट या सजे हुए बाहरी रूप को ही संरचना कहेंगे। वास्तव में संरचना उसी वस्तु की होती है जिसे एकाधिक इकाइयाँ एक साथ मिलकर बनाती हैं। ये निर्मायक या बनाने वाली इकाइयाँ जब एक निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत रहते हुए सिलसिले या क्रम से सज जाती हैं तो उन सबको मिलाकर उनका एक सम्मिलित या सजग रूप हमारे सामने आता है, यह बाह्य समग्र रूप ही संरचना कहलाता है। इसे हम मानव शरीर की संरचना का उदाहरण समझ सकते हैं। शरीर की संरचना हाथ-पाँव जाँघ, कान, आँखें, मुख आदि अनेक अंगों से मिलकर बनती हैं। यह सभी अंग अपने-अपने स्थान पर स्थिर भी हैं और परस्पर एक-दूसरे से व्यवस्थित रूप में जुड़े भी हुए हैं। अर्थात् विभिन्न अंगों के एक विशिष्ट प्रकार के संयोग से विशेष प्रकार की एक शरीर संरचना या ढाँचे का निर्माण होता है जो. प्राणिशास्त्रीय संरचना कहलाती है। श्री हैरी एम. जॉनसन के अनुसार, "किसी भी चीज की संरचना उसके अंगों में पाए जाने वाले अपेक्षाकृत स्थायी अन्तः सम्बन्धों को कहते हैं।"संक्षेप में, "संरचना किसी भी चीज की निर्मायक इकाइयों का वह व्यवस्थित ढाँचा है; जिसके अन्तर्गत प्रत्येक इकाई का एक निश्चित स्थान होता है और सभी इकाइयाँ एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हुए समग्र रूप में एक निश्चित स्वरूप या बनावट को प्रकट करती है।"

संरचना की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. संरचना कोई अखण्ड व्यवस्था न होकर एक से अधिक इकाइयों या अंगों द्वारा निर्मित व्यवस्था है। अन्य शब्दों में प्रत्येक संरचना का निर्माण अनेक अंगों, तत्त्वों या इकाइयों से होता है।
2. इन इकाइयों में जब परस्पर व्यवस्थित स्थायी सम्बन्ध होते हैं तभी संरचना का निर्माण होता है।
3. संरचना का झुकाव स्थायित्व की ओर होता है। विशेष परिस्थिति में ही संरचना में परिवर्तन आता है।

4. संरचना किसी वस्तु के बाह्य स्वरूप या आकृति से सम्बन्धित होती है उसकी आन्तरिक रचना से नहीं। किसी मकान की संरचना का ज्ञान हमें उसकी बाह्य आकृति से होता है न कि आन्तरिक बनावट से।

## सामाजिक संरचना का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definiton of Social Structure)

संरचना का अर्थ ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। सामाजिक शब्द का अर्थ है "समाज'। समाज एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है वरन् इसका निर्माण परिवार, व्यक्ति, संस्थाओं, विद्यालयों, मूल्यों व पदों आदि से मिलकर होता है। ये समस्त इकाइयाँ परस्पर व्यवस्थित रूप से सम्बन्धित होती हैं। इस प्रकार अपने-अपने स्थान पर व्यवस्थित रूप में अन्तःसम्बन्धित होने के कारण समाज का जो रूप हमारे सामने आता है, उसी को सामाजिक संरचना कहते हैं। अन्य शब्दों में, "समाज की विभिन्न निर्मायक इकाइयाँ या अंग व्यवस्थित रूप से अन्तःसम्बन्धित रहते हुए जिस ढाँचें या रूपरेखा की रचना करते हैं; उसी को सामाजिक संरचना कहा जाता है।"संक्षेप में जिस प्रकार शरीर में अनेक अंग क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित होकर ढाँचे या रचना का निर्माण करते हैं। उसी प्रकार समाज की विभिन्न इकाइयाँ क्रमबद्ध रूप से सजकर समाज के एक ढाँचे या संरचना का निर्माण करती हैं। ढाँचे या संरचना का अर्थ बाहरी स्वरूप से होता है। सामाजिक संरचना बाहरी आकार होता है।"

(1) पारसन्स ने सामाजिक संरचना को इस प्रकार परिभाषित किया है; सामाजिक संरचना परस्पर सम्बन्धित संस्थाओं, एजेन्सियों तथा सामाजिक प्रतिमानों और साथ ही समूहों में प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण की गई स्थितियों और कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता है।

"Social structure is the term applied to the particular arrangement of the inter-related institutions, agencies and social patterns as well as the statuses and roles which each person assumes in the group.'

-**Talcott Parsons**, Essay in Sociological Theory pp. 89-103.

(2) कार्ल मैनहीम के अनुसार, "सामाजिक संरचना अन्तःक्रियात्मक शक्तियों का जाल है।"

Social structure is the web of interacting forces." -Karl Mannhelm

जाल शब्द एक व्यवस्था, एक ताने-बाने की ओर संकेत करता है। इसका अर्थ यह है कि जब समाज की विभिन्न इकाइयाँ क्रमबद्ध रूप से सज जाती है तो वे एक ताने-बाने या व्यवस्था या ढाँचे का निर्माण करती हैं।

(3) मैकाइवर और पेज ने लिखा है, "समूह निर्माण के विभिन्न तरीके संयुक्त रूप से जटिल प्रतिमान को बनाते हैं।........ सामाजिक संरचना के विश्लेषण में सामाजिक प्राणियों की विभिन्न मनोवृत्तियों और रुचियों की भूमिका स्पष्ट होती है।'

"............the various modes of grouping--together comprise the complex pattern of social structure.... In the analysis of the social structure the role of diverse." -Maciver and Page

(4) जिन्सबर्ग के अनुसार, "सामाजिक संरचना का सम्बन्ध सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् समूहों, समितियों, तथा संस्थाओं के एकीकरण से है।'

(5) रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, "सामाजिक संरचना के अंग मनुष्य ही हैं। स्वयं संरचना, संस्था द्वारा परिभाषित और नियमित सम्बन्धों में लगे हुए व्यक्तियों की एक क्रमबद्धता है।"

(6) श्री बाऊन के अनुसार, "वास्तविक जीवन में हम देखते हैं कि मनुष्य परस्पर सामाजिक सम्बन्धों द्वारा बँधे हुए है। वास्तविक रूप में पाए जाने वाले इन सम्बन्धों के द्वारा ही सामाजिक संरचना का निर्माण होता है।"

(7) हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार, "सामाजिक संरचना के भूमिकाओं को उन परिचित प्रतिमानों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो कि मुख्य रूप से सामाजिक कार्य या क्रिया की पूर्ति के लिए संगठित हैं।"

(8) नैडेल के अनुसार, "सामाजिक संरचना के अध्ययन में हम समग्र या सम्पूर्ण वस्तु (total entity) के अन्तर्गत विभिन्न अंगों के अन्तः सम्बन्धों या क्रमबद्धता का अध्ययन करते हैं।"

(9) सी. ए. कोजर एवं रोजेनबर्ग के अनुसार, "संरचना का तात्पर्य सामाजिक इकाइयों के तुलनात्मक स्थिर और प्रतिमानित सम्बन्धों से है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि सामाजिक संरचना एक समाज के उस सम्पूर्ण प्रतिमान को कहते हैं, जो कि उस समाज की विभिन्न निर्मायक इकाइयों के निश्चित ढंग से व्यवस्थित हो जाने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है।

## सामाजिक संरचना की प्रमुख विशेषताएँ (Chief Chaacteristics of social structure)

(1) सामाजिक संरचना समाज के बाह्य स्वरूप का ज्ञान कराती है-सामाजिक संरचना का सम्बन्ध सामाजिक इकाइयों की कार्य-विधि से नहीं होता। अतः वह बाह्य स्वरूप का ही बोध या ज्ञान कराती है। जिस प्रकार शरीर रचना में हाथ, मुख, नाक, कान आदि एक व्यवस्थित क्रम में परस्पर जुड़ते हैं तो शरीर रूपी ढाँचे का निर्माण होता है, जिससे शरीर का बाह्य रूप स्पष्ट दिखाई देता है; उसी प्रकार से समाज का निर्माण करने वाली इकाइयाँ भी क्रमानुसार जुड़ने पर एक बाह्य ढाँचे का निर्माण करती हैं। समाज का यह बाहय ढाँचा ही सामाजिक संरचना कहलाता है।

(2) सामाजिक संरचना विभिन्न इकाइयों का क्रमबद्ध व्यवस्थित स्वरूप है-सामजिक संरचना विभिन्न इकाइयों द्वारा ही निर्मित होती है। ये इकाइयाँ क्रमहीन या अस्त-व्यस्त न होकर परस्पर सम्बन्धित होती हैं। उदाहरण के लिए एक स्थान पर साईकिल के हैण्डिल, पहिये, ट्यूब, टायर आदि को रख दिया जाय तो वह केवल कल-पुर्जों का ढेर मात्र माना जाएगा। परन्तु यदि इन सबको क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित कर कस दिया जाय तो साइकिल कहलाएगी। इसी प्रकार समाज की जब विभिन्न इकाइयाँ स्थिति के अनुसार सज जाती है तो समाज की संरचना का निर्माण होता है।

(3) सामाजिक संरचना अमूर्त होती है-सामाजिक संरचना मूर्त नहीं होती। पारसन्स तथा मैकाइवर के अनुसार सामाजिक संरचना अमूर्त होती है। इनके अनुसार सामाजिक संरचना का निर्माण संस्थाओं, एजेन्सियों आदि से होता है; जिन्हें न तो हम देख सकते हैं, न स्पर्श कर सकते हैं। अतः यह कोई अवलोकन योग्य वस्तु नहीं है। इसका केवल अनुभव किया जा सकता है। हम आज के निर्णायक तथ्यों को सम्भवतः देख लें, पर उनके मध्य पाई जाने वाली क्रमबद्धता नहीं दिखती। सामाजिक संरचना का सम्बन्ध केवल इसी क्रमबद्धता से होता है।

(4) सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयों का पारस्परिक सम्बन्ध अपेक्षाकृत स्थायी होता है-अधिकांश समाजशास्त्री सामाजिक संरचना को एक स्थायी अवधारणा मानते हैं। सामजिक संरचना का निर्माण जिन समूहों, उपसमूहों तथा संस्थाओं से होता है। वे प्रायः स्थायी होती हैं। इस कारण सामाजिक संरचना भी स्थायी होती है। जॉनसन का विचार है कि सामाजिक संरचना एक स्थायी अवधारणा है तथा इसमें परिवर्तन सरलता से नहीं होता है।

(5) सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई का एक पूर्व निश्चित स्थिति या पद होता है-सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई के लिए एक निश्चित निर्धारण होता है और उसी स्थान पर रहते हुए वह इकाई सामाजिक संरचना के निर्माण में सहायक होती है वह अपनी इच्छानुसार किसी अन्य पद या स्थान पर अधिकार नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए परिवार न्यायालय का स्थान नहीं ले सकता और न ही न्यायालय परिवार या कालेज का स्थान ले सकता है।

(6) सामाजिक संरचना अखण्ड व्यवस्था नहीं है-सामाजिक संरचना अखण्ड न होकर अनेक इकाइयों द्वारा निर्मित होती है। पारसन्स के मत में ये इकाइयाँ हैं-संस्थाएँ, सामाजिक समूह व समितियाँ तथा व्यक्ति या समाज के सदस्य। अन्य शब्दों में प्रत्येक संरचना अनेक खण्डों से मिलकर बनती है; अतः यह अखण्ड नहीं होती है। जब ये इकाईयाँ परस्पर एक क्रम में जुड़ जाती हैं तो एक बनावट या प्रतिमान को प्रकट करती हैं।

(7) सामाजिक संरचना एक गतिशील अवधारणा है-यह सत्य है कि सामाजिक सरंचना में स्थायित्व होता है परन्तु यह भी सत्य है कि यह स्थायी होते हुए भी परिवर्तनशील है। एक विद्वान के अनुसार है सामाजिक संरचना स्थायी होते हुए भी परिवर्तनशील अवधारणा है। उदाहरण के लिए परिवार स्थायी है; जबकि इसकी संरचना में समय-समय पर परिवर्तन सम्भव है। सामाजिक संरचना समाज से सम्बन्धित है; इसमें परिवर्तन होता है तो सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन हो जाता है। पहले भारतवर्ष में संयुक्त परिवार पर सामाजिक संरचना संगठित थी, अब एकाकी परिवार पर है। इसके अतिरिक्त समितियों, संस्थाओं आदि का स्वरूप बदलता रहता है; इसलिए सामाजिक संरचना का स्वरूप भी बदलता रहता है।

(8) सामाजिक संरचना स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित होती है-प्रत्येक समाज की संरचना दूसरे समाज की संरचना से भिन्न होती है। इस भिन्नता का कारण है; सामाजिक संरचना का स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों तथा स्थानीय सांस्कृतिक वातावरण से प्रभावित होना। रैडक्लिफ ब्राउन ने सामाजिक संरचना की अवधारणा में स्थानीय विशेषताओं को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है।

(9) सामाजिक संरचना के निर्माण में सामाजिक प्रक्रियाओं का विशेष योगदान रहता है-सामाजिक संरचना के निर्माण में सहयोगी तथा असहयोगी प्रक्रियाओं की विशेष भूमिका रहती है। सहयोगी प्रक्रियाएँ हैं-सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, एकीकरण, सात्मीकरण। असहयोगी प्रक्रियाएँ हैं-प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष, आदि। इन प्रक्रियाओं के द्वारा ही सामाजिक संरचना का स्वरूप निर्धारित होता है। जैसा भी सामाजिक प्रक्रिया का रूप होगा; उसी के अनुरूप सामाजिक संरचना होगी।

(10) सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली प्रत्येक इकाई या अंग की अपनी एक संरचना होती है-"सामाजिक संरचना के विभिन्न अंग या इकाईयाँ हैं-सामाजिक समूह, परिवार, समुदाय, जाति, वर्ग, चर्च आदि। इनमें से प्रत्येक अंग या इकाई की अपनी विशेष संरचना होती है। इन समस्त उप-संरचनाओं के सम्मिलित रूप को ही सामाजिक संरचना कहते हैं। अन्य शब्दों में सामाजिक संरचना

के निर्माण में अनेक उप-संरचनाओं का सहयोग भी रहता है तथा प्रत्येक इकाई अंग की अपनी एक संरचना होती है।'

उपर्युक्त सामाजिक संरचनाओं की विशेषताओं से निष्कर्ष निकलता है कि समाज कोई अखण्ड व्यवस्था नहीं है। समाज का निर्माण अनेक इकाइयों द्वारा होता है; जो क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित होने पर सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं। सामाजिक संरचना स्थायी अवधारणा है, परन्तु परिवर्तनशील भी हैं। सामाजिक संरचना में परिवर्तन होते हैं, परन्तु अत्यन्त मन्द गति से। सामाजिक संरचना अमूर्त है, इसे देखा या छुआ नहीं जा सकता। सामाजिक संरचना स्थानीय तत्त्वों से प्रभावित होती है तथा उसके निर्माण में सामाजिक प्रक्रियाओं का विशेष योगदान रहता है।

## सामाजिक संरचना के तत्त्वों (Elements of Social Structure)

सामाजिक संरचना के निम्नलिखित तत्त्व हैं-

(1) सामाजिक प्रस्थिति (Social Status)-सामाजिक प्रस्थिति सामाजिक संरचना की सबसे छोटी इकाई है। प्रस्थिति दो प्रकार की होती है-प्रदत्त प्रस्थिति और अर्जित प्रस्थिति।

(2) सामाजिक भूमिका (Social Role)-प्रस्थिति के अनुसार व्यक्ति से जिस व्यवहार की आशा की जाती है; उसे भूमिका कहते हैं। सामाजिक संरचना का यह एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। भूमिका का सम्बन्ध व्यक्ति के कर्तव्यों और शक्तियों से होता है।

(3) आदर्श नियम (Norms)-सामाजिक संरचना का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व आदर्श नियम है। हमारा व्यवहार आदर्श नियमों द्वारा निर्धारित होता है।

## सामाजिक संरचना के विभिन्न पक्ष या तत्त्व (Elements or Various Aspects of Social Structure)

जॉनसन के अनुसार सामाजिक संरचना के चार तत्त्व हैं-

(1) विभिन्न प्रकार के उप-समूह,

(2) विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ

(3) उप-समूह और भूमिकाओं को नियन्त्रित करने वाले नियम।

(4) सांस्कृतिक मूल्य।

इन चारों ही समूहों को आंशिक संरचना कहा जा सकता है।

सामाजिक संरचना से सम्बन्धित पाँच पक्षों को जॉनसन ने अर्द्ध-संरचनात्मक पक्ष की संज्ञा दी है; जो निम्नलिखित है-

(1) उप-समूहों में और पूरी प्रणाली में विभिन्न भूमिकाओं को करने वाले लोगों की संख्या-अलग-अलग कार्यों को करने वाले लोगों की संख्या भी उस कार्य को करने के नियमों के अनुसार निश्चित होती है। उदाहरणार्थ-विधान सभाओं में विधायकों की तथा संसद सदस्यों की संख्या, सुप्रीम कोर्ट में जजों की संख्या; कानून द्वारा निश्चित होती है। इस प्रकार विभिन्न कार्यों को करने वाले लोगों की संख्या निश्चित व अनिश्चित दोनों प्रकार की हो सकती है।

(2) पुरस्कार का वितरण समाज में पुरस्कार के वितरण की व्यवस्था भी महत्त्वपूर्ण है। समाज के नियमों एवं मूल्यों के आधार पर ही व्यक्तियों का मूल्यांकन किया जाता है। यदि एक व्यक्ति अपने लिए निर्धारित कार्यों को नियमानुसार करता है तो उसकी प्रशंसा होती है और समाज में उसको सम्मान भी बहुत अधिक प्राप्त होता है, लेकिन इसके विपरीत कार्य करने पर प्रतिष्ठा घटती है। इस प्रकार समाज में पुरस्कार वितरण के अनेक साधन पाए जाते हैं।

(3) प्रत्येक प्रकार के उप-समूहों की संख्या तथा उनका समान प्रकार के उप-समूहों में अनुपात-यदि हम आर्थिक प्रणाली का अध्ययन करते हैं तो यह जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं कि स्वामित्व, साझेदारी, नियमों आदि की कितनी संख्या व प्रकार हैं।

(4) सुविधाओं का वितरण-सामाजिक प्रणाली की व्याख्या करने के लिए सम्पत्ति तथा अधि कारों एवं शक्ति के वितरण को जानना भी अति आवश्यक होता है। समाज में सम्पत्ति वितरण के भी कानून बने हुए हैं। इस प्रकार प्रत्येक कार्य हैं। इस प्रकार प्रत्येक कार्य से सम्बन्धित अधिकार, व सुविधाएँ एवं शक्तियाँ होती हैं। इन सभी का वितरण भी ज्ञात किया जाना चाहिए।

(5) प्रत्येक प्रकार के उप-समूहों में सदस्यों का विवरण-किसी भी सामाजिक प्रणाली का विश्लेषण करते समय भिन्न-भिन्न समूहों के आकार को ही नहीं वरन् उन समूहों के सदस्यों की संख्या को भी देखना चाहिए।

इस प्रकार से सामाजिक संरचना में निम्नलिखित संरचना व अर्द्ध संरचनात्मक पक्ष पाए जाते हैं

1. सामान्य नियम
2. प्रत्येक प्रकार की भूमिका को ग्रहण करने वालों की संख्या,
3. उप-समूहों में सदस्यों का वितरण
4. सांस्कृतिक मूल्य
5. सभी प्रकार के उप-समूहों की संख्या व उनके प्रकार एवं
6. सुविधाओं व पुरस्कारों का वितरण

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर स्पष्ट होता है कि सामाजिक संरचना समाज के बाह्य रूप को प्रकट करती है और इसका निर्माण अनेक समूहों, संस्थाओं, मूल्यों, एजेन्सियों आदि से मिलकर होता है। सामाजिक संरचना अनेक अर्द्ध संरचनाओं एवं तत्त्वों से मिलकर बनती है। यदि समाज में नियमहीनता या नियमों का उल्लघंन पाया जाता है, तो उसका मूल्यांकन भी सामाजिक संरचना के आधार पर किया जाता है।

**स्व-प्रगति की जाँच करें :**

1. समाजशास्त्री डब्ल्यू. जी. समनर ने अन्तः समूह के बारे में क्या लिखा है?
2. समाशास्त्री मर्टन का समूहों के सम्बन्ध में क्या विचार है?
3. एल. बूम का प्राथमिक समूह के बारे में विचार स्पष्ट करें।
4. प्रो. जिस्बर्ट के प्राथमिक समूह के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करें।

## सारांश

सामाजिक संरचना समाज के बाहरी रूप प्रकट करती है और इसका निर्माण अनेक समूहों, संस्थाओं, मूल्यों, एजेन्सियों आदि से मिलकर होता है। सामाजिक संरचना अनेक अर्द्ध संरचनाओं एवं तत्वों से मिलकर बनती है।

## स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. समनर के अनुसार अन्तःसमूह के सदस्यों में आपस में हम की भावना पाई जाती है इसी कारण इस समूह में सदस्यों की एकता दिखाई पड़ती है। अन्तःसमूह के सदस्य अपने समूह को श्रेष्ठ व दूसरे समूह

को अपने आपसे हीन समझते हैं। इस समूह के सदस्य व्यवहार के सामान्य नियमों का पालन करते हैं और इन्हीं नियमों के आधार पर वे एक-दूसरे से बँधे रहते हैं।

2. मर्टन का मानना है कि सापेक्षहीनता के कारण सन्दर्भ समूह का निर्माण होता है। सापेक्षहीनता का अर्थ यह है कि व्यक्ति के मन में अपने समूह के प्रति हीनता का भाव उत्पन्न होता है और वह किसी दूसरे समूह को अपने आपसे ऊँचा समझने लगता है, उसको अपने समूह से अधि क श्रेष्ठ समझने लगता है। जिस समूह को वह श्रेष्ठ समझता है, उसका वह सदस्य बनना चाहता है और उस समूह की मान्यताओं के अनुसार ही व्यवहार करने व जीवन के तरीकों को अपनाने का प्रयत्न करने लगता है। अतः कह सकते हैं कि सन्दर्भ समूह केवल सापेक्षहीनता के कारण ही नहीं बनते हैं बल्कि महत्वाकांक्षा के कारण भी बनते हैं।

3. प्राथमिक समूह मानव और समाज के मध्य एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का कार्य करते हैं। एल. ब्रूम (L-Broom) के अनुसार, ये समूह मनुष्यों में एकता की भावना उत्पन्न करते हैं, क्योंकि इससे मनुष्य समूह-शक्ति का अनुभव करता है तथा शारीरिक व मानसिक सुरक्षा का अनुभव करता है। व्यक्ति परस्पर हित-चिन्तन करते हैं तथा किसी कार्य को मिल-जुलकर पूरा करने का प्रयास करते हैं।

4. प्रो. जिस्बर्ट के शब्दों में, "प्राथमिक समूह से हमारा तात्पर्य ऐसे समूह से होता है जो विशेष रूप से सहयोगी तथा जिसके सदस्य एक-दूसरे से पूर्ण रूप से परिचित होते हैं किन्तु विशेष रूप से इन्हें प्रारम्भिक इस कारण कहा जा सकता है क्योंकि वह व्यक्ति की सामाजिक प्रवृत्तियों एवं विचारधारा के निर्माण में मौलिक हैं।'

**अभ्यास प्रश्न**

1. सामाजिक समूह का अर्थ स्पष्ट करें तथा इसकी परिभाषाएँ दें।
2. समूह निर्माण के तत्त्व कौन-कौन से हैं? समूह की विशेषताएँ बताते हुए इसका वर्गीकरण करें।
3. प्राथमिक तथा द्वितीयक समूहों का अर्थ एवं परिभाषाएँ देते हुए इनके बीच अन्तर स्पष्ट करें।
4. प्राथमिक तथा द्वितीयक समूहों की विशेषताओं का वर्णन करें।
5. सामाजिक संरचना से क्या तात्पर्य है? व्याख्या करें।
6. सामाजिक संरचना की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करें।
7. सामाजिक संरचना के कौन-कौन से तत्त्व हैं? प्रत्येक पर टिप्पणी लिखो।

## ekMîy&4

# प्रस्थिति एवं भूमिका

**इस अध्याय के अन्तर्गत :**

- प्रस्थिति का अर्थ एवं परिभाषाएँ
- भूमिका का अर्थ एवं परिभाषाएँ
- भूमिका की विशेषताएँ
- प्रस्थिति एवं भूमिका का सम्बन्ध
- प्रस्थिति एवं भूमिका का समाजशास्त्री महत्व

**अध्याय के उद्देश्य :**

- इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :
- प्रस्थिति का अर्थ और इसकी परिभाषाएँ
- सामाजिक प्रस्थिति के प्रकार
- भूमिका का अर्थ एवं परिभाषाएँ
- भूमिका की विशेषताएँ
- प्रस्थिति एवं भूमिका का सम्बन्ध
- प्रस्थिति एवं भूमिका का समाजशास्त्रीय महत्व

# bdkb|&12 çfLFkfr vFk] ifjHkk"kk] çdkj Hkfedk vFk] ifjHkk"kk] fo'k"krk

समाज एक व्यवस्था है। एक व्यवस्था के रूप में समाज का एक ढाँचा ही नहीं होता बल्कि इसमें संगठन भी पाया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक संगठन सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक है। सामाजिक संगठन तभी संभव होता है जब समाज में भिन्न-भिन्न योग्यता और कुशलता के व्यक्ति अपने अनुरूप पदों पर रहकर कार्य करें और अपने पद से सम्बन्धित उन दायित्वों को पूरा करें, जिनकी समाज उनसे आशा करता है। इस प्रकार समाज में प्रत्येक व्यक्ति की एक प्रस्थिति और भूमिका अवश्य होती है।

## प्रस्थिति का अर्थ एवं परिभाषाएँ

सामान्य अर्थ में व्यक्ति के पद को ही उसकी प्रस्थिति कहते हैं। समाज में व्यक्ति को जो पद या स्थान प्राप्त होता है; उसी को प्रस्थिति कहते है। प्रस्थिति के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए निम्नांकित विद्वानों ने इसे इस प्रकार से परिभाषित किया है-

(1) इलियट और मैरिल के अनुसार, "प्रस्थिति व्यक्ति का वह पद है; जिसे व्यक्ति किसी समूह में अपने लिंग, आयु, परिवार, वर्ग, व्यवसाय, विवाह, अथवा विशेष प्रयत्नों आदि के कारण प्राप्त करता हैं।"

(2) जॉन लेवी के अनुसार, "किसी सामाजिक संरचना में व्यक्ति अथवा समूह के संस्थागत पदों की सम्पूर्णता का नाम ही प्रस्थिति है।'

(3) लिण्टन के अनुसार, "सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को एक समय विशेष में जो स्थान प्राप्त होता है; उसी को उस व्यक्ति की प्रस्थिति कहा जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि प्रस्थिति किसी व्यक्ति के सामाजिक पद का केवल एक भाग है। यही कारण है कि समाज में व्यक्ति केवल एक ही प्रस्थिति प्राप्त नहीं करता बल्कि एक समय में अथवा भिन्न-भिन्न अवसरों पर अनेक प्रस्थितियाँ प्राप्त करता है और अपनी योग्यता और कुशलता के अनुसार सभी प्रस्थितियों में एकरूपता, समीपता, सहयोग और पारस्परिकता बनाए रखता है।

## सामाजिक प्रस्थिति के प्रकार (Kinds of Social Status)

हमारी सामाजिक व्यवस्था स्वयं इस प्रकार की है; जिसकी सदस्यता के कारण व्यक्ति को मोटे तौर पर दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है-प्रदत्त और अर्जित।

I. प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed Status)-प्रदत्त प्रस्थिति वह है; जिसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को किसी प्रकार के प्रयत्न नहीं करने पड़ते बल्कि सामाजिक व्यवस्था के अनुसार उसे यह अपने आप ही प्राप्त हो जाती है। व्यक्तित्व के उचित विकास के लिए यह आवश्यक भी है कि व्यक्ति को समाज द्वारा ऐसी प्रस्थितियाँ प्रदान की जाएँ जिससे वह समाज से अधिकाधिक अनुकूलन कर सके।

प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण के आधार-प्रदत्त प्रस्थिति का निर्धारण निम्न आधारों पर किया जाता है-

1. लिंगभेद-बच्चे का लिंग स्थायी तथा पूर्णतया एक दृश्य जैवकीय तत्त्व है जो जन्म के समय से ही स्पष्ट होता है। संसार की सभी संस्कृतियाँ तथा समाजों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि स्त्री व पुरुषों की प्रस्थिति तथा भूमिका में महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है। प्राणीशास्त्रीय रूप में स्त्रियों को पुरुषों से निम्न समझा जाता है और यूरोपीय समाज में तो इसी आधार पर उनको निर्बल, मूर्ख, भावुक, धार्मिक तथा अंधविश्वासी तक मान लिया जाता है; जबकि पुरुषों को

तार्किक, उदार, प्रगतिशील तथा साहसी माना जाता है। ऐसे विश्वास चाहे बिल्कुल ही निराध र क्यों न हों लेकिन व्यावहारिक रूप से इसी आधार पर पुरुषों को समाज द्वारा उच्च प्रस्थितियाँ प्रदान की जाती हैं तथा स्त्रियों को पुरुषों से निम्न प्रस्थिति मिलती है। स्त्री की शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता का प्रमुख कारण उसके द्वारा बच्चों का पालन-पोषण करना समझा जाता है। इस आधार पर जबकि स्त्री को केवल घरेलू काम और प्राथमिक रूप से बच्चों की देखभाल का कार्य दिया जाता था, वहीं पुरुषों को शिकार, युद्ध तथा पशुओं का पालन जैसे महत्वपूर्ण कार्य दिए जाते थे। कभी-कभी धार्मिक आधार पर भी स्त्रियों को पुरूषों से कम महत्त्वपूर्ण समझा जाता है और इसलिए उन्हें पुरुषों की अपेक्षा निम्न प्रस्थिति प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए नीलगिरी की टोडा जनजाति में स्त्रियों को मासिक धर्म के कारण अपवित्र समझा जाता है। इसलिए उन्हें गाय-भैंसों के पास जाने तक की अनुमति नहीं दी जाती। टोडा जनजाति के पुरोहित को तो जीवन भर अविवाहित रहना पड़ता है। इस प्रकार अनेक समाजों में यौनभेद के आधार पर ही स्त्रियों तथा पुरुषों में श्रम-विभाजन पाया जाता है।

मूल्यांकन-वास्तव में, श्रम विभाजन की प्रकृति कभी दो संस्कृतियों में समान नहीं मिलती। एक संस्कृति में पुरुष झोपड़ी बनाने का कार्य करते हैं जबकि दूसरी संस्कृति में वही कार्य स्त्रियों द्वारा किया जाता है। किसी स्थान पर झाड़-फूँक का कार्य पुरुष करते हैं और कहीं स्त्रियाँ। देहरादून की खास जनजाति में तो स्थिति यहाँ तक बदली हुई है कि पुरुष बच्चों का पालन-पोषण तथा घर की देखभाल करते हैं, जबकि स्त्रियों का कार्य घर के बाहर घूमना तथा बाहर से सामान आदि लाना है।

वर्तमान समय में यौन-भेद अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहा क्योंकि सभी स्त्री-पुरुष सभी क्षेत्रों में कार्य करते हैं, लेकिन यह अत्यधिक सन्देहजनक है कि यौन के आधार पर प्रदत्त प्रस्थिति का भेद समाज से कभी पूर्णतया समाप्त हो सकेगा।

(2) आयु-भेद-प्रस्थिति को प्रदान करने के विभिन्न आधारों में आयु का प्रमुख महत्त्व है। लिंग के विपरीत आयु एक परिवर्तनशील घटना है और इस कारण व्यक्ति को आयु भेद के आध र पर निश्चित प्रस्थिति प्रदान नहीं की जा सकती। आयु के अनुसार प्रस्थिति प्रदान करने का केवल एक ही स्थायी आधार है और वह यह है कि विभिन्न व्यक्तियों के बीच आयु के अनुसार पाए जाने वाले सम्बन्धों को ध्यान में रखा जाए। जैसे-माता-पिता तथा बच्चे का सम्बन्ध बड़े भाई तथा छोटे भाई का सम्बन्ध अथवा भाई तथा बहन का सम्बन्ध आदि। इन सभी सम्बन्ध ों में व्यक्ति अपनी आयु के अनुसार एक विशेष प्रस्थिति प्राप्त करता है तथा उसी के अनुसार उनसे विभिन्न कर्तव्यों की पूर्ति अथवा भूमिका की आशा की जा सकती है। यद्यपि आयु के कोई भी निश्चित स्तर नहीं बनाए जा सकते, तो भी साधारण रूप से इन्हें पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है; जैसे-शैशव अवस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था। इन सभी आयु समूहों में व्यक्ति को विभिन्न प्रकार की प्रस्थितियाँ प्राप्त होती हैं क्योंकि कुछ विशेष प्रस्थितियों का सम्बन्ध केवल कुछ विशेष आयु समूह से है। साधारण रूप से आयु बढ़ने के साथ ही साथ समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति भी बढ़ती जाती है, लेकिन तो भी आयु का ग्रामीण समाजों में महत्व अधिक है, जबकि जटिल व नगरीय समाजों में इसका महत्त्व इतना अधिक नहीं है। उदाहरण के लिए प्राचीन भारत, चीन व जापान में आयु किसी भी प्रस्थिति को ग्रहण करने का सर्वप्रथम आधार थी, लेकिन यूरोप तथा अन्य जटिल समाजों में आयु को उतना निश्चित आधार नहीं माना जाता।

मूल्यांकन-आयु को प्रस्थति का एकमात्र निर्धारक तत्त्व नहीं कहा जा सकता। एक ही आयु के स्त्री तथा पुरुषों की प्रस्थितियों में भी महत्त्वपूर्ण अंतर पाया जाता है। साधारण रूप से समान आयु के स्त्री-पुरुषों को मिलने वाली-प्रस्थितियाँ स्त्रियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण तथा उत्तरदायित्व से युक्त होती हैं। साधारणतया सभी समाजों में वृद्धावस्था को अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण माना जाता है, लेकिन जिन स्थानों पर आजीविका प्राप्त करने के साधन बहुत कठिन होते हैं, वहाँ वृद्धावस्था में व्यक्ति को कोई महत्त्वपूर्ण प्रस्थिति प्रदान नहीं की जाती। एस्कीमों व्यक्ति तो वृद्ध व्यक्तियों की हत्या करना तक नैतिक मानते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि समाजों में आयु को प्रदत्त स्थिति का महत्वपूर्ण आधार नहीं समझा जाता।

(3) नातेदारी-लिंग तथा आयु के अतिरिक्त व्यक्ति को नातेदारी के आधार पर भी समाज में कुछ विशेष प्रस्थितियाँ प्राप्त होती हैं। बहुत प्राचीन समय से ही एक व्यक्ति को समाज में वही प्रस्थिति प्रदान की जाती रही है जो स्थिति उसके माता-पिता अथवा दूसरे सम्बन्धियों की रही हो। यदि माता-पिता उच्च स्थिति के व्यक्ति रहे हों तो बच्चे को भी उच्च दृष्टि से देखा जाता है और यदि समाज में माता-पिता की स्थिति निम्न है तो बच्चे को भी समाज में कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। इसका कारण यह है कि प्राणीशास्त्रीय रूप से बच्चे की विशेषताओं को माता-पिता की विशेषताओं के समान ही समझने का प्रयत्न किया जाता है। परिवार एक सार्वभौमिक सामाजिक संस्था है। इसके अन्तर्गत बच्चा अपने माता-पिता से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहता है तथा माता-पिता द्वारा ही बच्चे का समाजीकरण होता है। इस घनिष्ठ सम्बन्ध के फलस्वरूप किसी अन्य व्यक्ति को अपनी विशेषताएँ देने के स्थान पर माता-पिता बच्चे को ही अपने स्वाभाविक गुण प्रदान करते हैं और इस प्रकार आरंभिक अवस्था से ही बच्चे में अपने माता-पिता के समान गुण पैदा हो जाते हैं। इस आधार पर भी यह उचित समझा जाता है कि उच्च स्थिति वाले माता-पिता के बच्चों को भी उच्च प्रस्थिति प्रदान की जाए। नातेदारी के कारण व्यक्ति को समाज में ही नहीं बल्कि परिवार में भी कुछ विशेष प्रस्थितियाँ प्राप्त होती हैं, जिनका प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अत्यधिक महत्व है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति किसी का भाई अथवा बहन, भतीजा अथवा भतीजी, पुत्र अथवा प्रपौत्र, चाचा अथवा चाची और इसी प्रकार की कोई भी प्रस्थिति ग्रहण कर सकता है। मानव समाज में इन नातेदारियों के साथ कुछ विशेष प्रकार के अधिकार तथा कर्तव्य जुड़े रहते हैं; जिनसे व्यक्ति की स्थिति की पहचान हो सकती है तथा उसे समाज में एक विशेष स्थान प्राप्त होता है।

मूल्यांकन-प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण में नातेदारी का आधार बहुत सन्देहपूर्ण है। वास्तव में बच्चों की योग्यता का सम्बन्ध उसके माता-पिता से नहीं जोड़ा जा सकता। अक्सर प्रतिभाशाली माता-पिता की सन्तानें बिल्कुल मूर्ख होती हैं और साधारण माता-पिता भी प्रतिभाशाली बच्चों को जन्म देते हैं।

(4) अन्य आधार-इसके अन्तर्गत निम्नांकित आधार आते

1. एक नीग्रो प्रजाति के बच्चे को अमेरिकी और दूसरे गोरे समुदायों में जन्म से ही निम्न प्रस्थिति प्राप्त होती है। यद्यपि इसका निर्धारण माता-पिता की प्रस्थिति के कारण ही होता है, लेकिन वास्तव में यही प्रस्थिति धीरे-धीरे उनकी मनोवृत्ति को भी प्रभवित करने लगती है और इस प्रकार यह उनके व्यक्तित्व का अंग बन जाती है।
2. भारत में जातिगत सदस्यता प्रदत्त प्रस्थिति का मुख्य आधार है। किसी व्यक्ति में चाहे कितनी ही योग्यता हो, लेकिन शूद्र जाति में जन्म लेने के कारण उसकी प्रस्थिति सदैव

निम्न ही रहती है। दूसरी ओर कोई योग्यता न होने पर भी उच्च जातियों के बच्चों को सामाजिक व्यवस्था में जन्म से ही उच्च स्थिति प्राप्त हो जाती है।

3. जन्म की वैधता और अवैधता भी प्रदत्त प्रस्थिति का आधार है। यदि बच्चे का जन्म अवैध है तो दूसरे बच्चों की अपेक्षा निम्न प्रस्थिति प्राप्त होती है और समाज में उसे सभी व्यक्ति निम्न दृष्टि से देखते हैं। कुछ समाजों में जुड़वाँ बच्चों को भी इसलिए निम्न प्रस्थिति प्राप्त होती है, क्योंकि जुड़वा सन्तानों की उत्पत्ति के साथ तरह-तरह के अंधविश्वास तथा किंवदन्तियाँ जुड़ी रहती हैं।

4. परिवार की परम्पराएँ भी अपने सदस्यों के लिए एक विशेष प्रस्थिति अर्जित करने में सहायता प्रदान करती हैं। परिवार यदि पुराना और सम्भ्रांत है तो उसके सदस्यों के गुण-अवगुण देखे बिना ही उन्हें उच्च प्रस्थिति दे दी जाती है। इसके विपरीत अपराधी परिवार के अच्छे सदस्यों को भी हमेशा संदेह की दृष्टि से देखा जाता है और इसीलिए उन्हें निम्न प्रस्थिति मिलती है।

5. गोद लिए गए बच्चों को रक्त सन्तान की तुलना में माता-पिता की प्रस्थिति से एकरूपता प्राप्त नहीं हो पाती। ऐसे बच्चों की प्रस्थिति भी समाज में साधारण बच्चों से भिन्न होती है; जिनके माता-पिता विवाह विच्छेद के द्वारा पृथक् हो गए हों।

इसी प्रकार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अनेक आधारों पर कुछ विशेष प्रस्थितियाँ प्राप्त होती हैं जो बाद में उनकी अर्जित प्रस्थितियों की प्रकृति तक को प्रभावित करती हैं।

II. अर्जित प्रस्थित (Achieved Status)-अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति की कुछ प्रस्थिति का वह भाग है; जिसे वह अपने प्रयत्नों और योग्यता से समाज में प्राप्त करता है। प्रत्येक समाज में सभी सदस्यों को मिलने वाली सफलता अथवा असफलता समान नहीं होती। कुछ व्यक्तियों को समाज में प्रदत्त प्रस्थिति मिलने पर भी वे आश्चर्यजनक रूप से सफलता प्राप्त कर लेते हैं; जबकि कुछ व्यक्ति समाज द्वारा प्रदत्त प्रस्थितियों की प्रतिष्ठा को स्थायी बनाए रखने तक में असफल रह जाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति की प्रस्थिति मुख्य रूप से उसकी योग्यता तथा प्रयत्नों पर निर्भर रहती है। साधारण रूप से समाज में दयालु, योग्य, बुद्धिमान, तथा मौलिक विचार रखने वाले व्यक्तियों को सभी व्यक्ति अधिक महत्व देते हैं। प्रत्येक समाज में सदैव ही कुछ व्यक्ति इतने सामायिक, उन्नतिशील, कार्यक्षम और महत्त्वाकांक्षी होते हैं कि समाज द्वारा कोई भी सुविधाएँ न मिलने पर भी वे नेता अथवा उद्योगपति जैसी महत्त्वपूर्ण प्रस्थितियों को अर्जित कर लेते हैं। प्रत्येक युग में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो इतिहास का निर्माण करते हैं तथा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को इस प्रकार से परिवर्तित करने की क्षमता रखते हैं, जिसमें उन्हें भी एक उचित स्थान मिल सके। उदाहरण के लिए यह हो सकता है कि एक व्यक्ति को निम्न जाति अथवा प्रजाति का सदस्य होने के कारण समाज द्वारा कोई भी उच्च प्रस्थिति प्रदान न की जाए, लेकिन वही व्यक्ति अपने प्रयत्नों और योग्यता से एक राष्ट्र का महान नेता भी बन सकता है। इतना अवश्य है कि प्रदत्त प्रस्थिति के प्रभाव में व्यक्ति को एक उच्च प्रस्थिति अर्जित करने के लिए उन व्यक्तियों से अधिक प्रयत्न करने पड़ते हैं; जिन्हें समाज ने पहले से ही ऊँची प्रस्थिति दे रखी हो।

अर्जित प्रस्थिति के आधार-आधुनिक समाजों में अर्जित प्रस्थिति की धारणा व्यापार की प्रवृत्ति, श्रम विभाजन, नगरीय दशाओं, तीव्र सामाजिक परिवर्तन तथा सम्पत्ति के संचय के साथ स्पष्ट रूप से

सम्बन्धित है। इन्हीं दशाओं को अर्जित प्रस्थिति के आधार पर भी कहा जा सकता है। यद्यपि ये सभी क्षेत्र प्रस्थिति को अर्जित करने का एकमात्र आधार नहीं हैं तो भी इनकी सहायता से किसी प्रस्थिति को सरलतापूर्वक अर्जित किया जा सकता है।

अर्जित प्रस्थिति के आधारों को निम्न बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है-

(1) आर्थिक दशाएँ-व्यापार की सुविधाएँ, श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण आदि ऐसी आर्थिक दशाएँ हैं; जिनके आधार पर व्यक्ति समाज में एक प्रस्थिति अर्जित करता है। व्यापार से व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में आत्मनिर्भर होकर आत्म की भावना का विकास करता है। विशेषीकरण अथवा श्रम विभाजन किसी विशेष योग्यता वाले व्यक्ति को अपनी योग्यता दिखाने का अवसर प्रदान करता है और इसकी सहायता से व्यक्ति अक्सर उच्च प्रस्थिति प्राप्त कर लेता है। उच्च जीवन स्तर अथवा नगरीय वातावरण जहाँ पग-पग पर व्यक्ति को तरह-तरह की परिस्थितियों से अनुकूलन करने की समस्या उत्पन्न करता है; वहीं मनुष्य को समाजीकरण की शिक्षा भी प्रदान करता हैं। इसकी सहायता से व्यक्ति ऊँची प्रस्थितियों को प्राप्त करने के योग्य हो जाता है।

(2) सामाजिक परिवर्तन-सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप समाज में नवीन प्रस्थितियों की आवश्यकता होती है; जिन्हें व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार प्राप्त करते हैं। व्यक्ति कितने भी योग्य क्यों न हों, लेकिन यदि समाज में नयी-नयी प्रस्थितियों की आवश्यकता ही महसूस न की जाए, तो व्यक्ति उन्हें प्राप्त किस प्रकार कर सकता है। प्रस्थितियों की अनुपस्थिति में उनको अर्जित करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(3) सम्पत्ति का संचय-वर्तमान युग में सम्पत्ति का संचय भी अर्जित प्रस्थिति का महत्त्वपूर्ण आधार है। आज सभ्य समाजों में सम्पत्ति का संचय उच्च प्रस्थिति का महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन चुका है। इस प्रकार से मनुष्य सम्पत्ति के द्वारा उच्च पद प्राप्त कर सकता है, क्योंकि यह व्यक्ति की योग्यता का एक स्पष्ट माप ही नहीं बल्कि इसके द्वारा वह उच्च प्रस्थितियों से सम्बद्ध सभी सुविधाएँ भी प्राप्त कर सकता है। इसके बाद यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि सम्पत्ति को वैध साधनों और सम्मानित ढंग से अर्जित किया गया हो, तभी यह व्यक्ति को उच्च प्रस्थिति दे सकती है। उच्च प्रस्थिति अर्जित करने के लिए व्यक्ति को सामाजिक रूप से उपयोगी कार्य करना भी आवश्यक है। एक व्यक्ति जब इस प्रकार के कार्य करने लगता है; जिन्हें साधारणतया दूसरे व्यक्ति नहीं कर पाते, तभी वह उच्च प्रस्थिति अर्जित कर सकता है।

(4) व्यक्तिगत योग्यता व कुशलता-कुछ समाज ही इस प्रकृति के नहीं होते जहाँ अर्जित प्रस्थितियों का महत्त्व अधिक होता है, बल्कि कुछ प्रस्थितियों की प्रकृति स्वयं इस प्रकार की होती है, जिन्हें केवल व्यक्तिगत योग्यता तथा कुशलता के आधार पर अर्जित किया जा सकता उदाहरण के लिए कोई सामाजिक व्यवस्था अपने आप किसी व्यक्ति को महान संतीतज्ञ, गणितशास्त्री, अभिनेता, लेखक अथवा पुरस्कार विजेता नहीं बना सकती। इनको तो व्यक्ति केवल निरंतर प्रयत्न अथवा व्यक्तिगत रुचि व योग्यता के द्वारा ही अर्जित कर सकता है। इसी प्रकार कोई परिवार एक व्यक्ति को डॉक्टर, वकील अथवा प्रोफेसर का प्रशिक्षण देकर उसे यह प्रस्थिति प्रदान नहीं कर सकता, बल्कि व्यक्ति अपने निजी प्रयत्नों के द्वारा ही इन प्रस्थितियों को अर्जित करता है। इस प्रकार सभी अर्जित प्रस्थितियाँ व्यक्ति की निजी कुशलता, योग्यता तथा प्रयत्नों पर आधारित हैं।

(5) सामाजिक मूल्यों का पालन-अर्जित प्रस्थिति कभी पूर्णतया स्वतंत्र नहीं होती बल्कि इसे अनेक सामाजिक मूल्यों और व्यवहार के नियमों को ध्यान में रखते हुए प्राप्त किया जा सकता है। सर्वप्रथम समाज व्यक्ति से यह आशा करता है कि वह अपनी योग्यता को उन्हीं कार्यों में लगाएगा; जिससे समाज कल्याण में वृद्धि की जा सके। एक व्यक्ति बहुत योग्य और प्रतिभासम्पन्न होने पर भी यदि लोगों को धोखा देकर धन अर्जित कर ले अथवा विनाशकारी प्रविधियों का आविष्कार करे तो वह उच्च प्रस्थिति अर्जित नहीं कर सकता। सामाजिक व्यवस्था उन व्यक्तियों को भी उच्च प्रस्थिति अर्जित करने से रोकती है, जो बुद्धिमान होते हुए भी अनुत्तरदायी व्यक्ति के हाथों में रहकर कार्य करते हैं।

(6) सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था-प्रत्येक प्रस्थिति के आधार समान नहीं होते बल्कि इनका निर्धारण एक विशेष सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था के अनुसार होता है। उदाहरण के लिए कुछ आदिम समाजों में उच्च प्रस्थिति का आधार भयानक पशुओं का शिकार करना, गहरे समुद्रों में मछली पकड़ना तथा युद्ध में अपना पराक्रम दिखाना है। इन समाजों में व्यक्ति चाहे कितना भी योग्य हो, वह कितनी ही सम्पत्ति एकत्रित कर ले, लेकिन इन कार्यों में सफलता प्राप्त किए बिना वह उच्च प्रस्थिति अर्जित नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिन समाजों की संस्कृति विचार प्रधान है, वहाँ व्यक्ति की अर्जित प्रस्थिति का प्रमुख आधार उसका मौलिक चिंतन होता है, जबकि भौतिकवादी संस्कृति में व्यक्ति की अर्जित प्रस्थिति का निर्धारण इस बात से होता है कि उसने कितनी सम्पत्ति का संचय कर लिया है। इस प्रकर अर्जित प्रस्थिति की धारणा को एक विशेष सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के संदर्भ में समझा जा सकता है।

आधुनिक समाजों में व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण बहुत कुछ उपर्युक्त आधारों पर ही होता है। यही कारण है कि आधुनिक समाजों में प्रदत्त प्रस्थितियों की अपेक्षा अर्जित प्रस्थितियों का महत्त्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

### भूमिका का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Role)

साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि भूमिका का तात्पर्य उन सभी कार्यों से है; जिनको एक विशेष प्रस्थिति के अनुसार व्यक्ति से पूरा करने की आशा की जाती है। इस दृष्टिकोण से भूमिका की धारणा को समझने के लिए आवश्यक है कि हम इसका निर्माण करने वाले तत्त्वों को समझ लें। ये तत्त्व प्रमुख रूप से दो प्रकार के होते हैं-

क- व्यक्तियों की आशाएँ तथा

ख- इन आशाओं के अनुरूप की जाने वाली बाह्य क्रियाएँ। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कुछ विशेष प्रकार के कार्यों को करने की आशा करता है। इनमें से कुछ कार्य वे हैं, जिन्हें एक विशेष परिस्थिति में करना उचित समझा जाता है, कुछ कार्य ऐसे हैं जो सांस्कृतिक नियमों को बनाए रखने के लिए आवश्यक होते हैं और कुछ की आशा इसलिए की जाती है; जिससे व्यक्ति का जीवन संगठित बना रहे। यदि एक व्यक्ति दूसरे लोगों की इन आशाओं के अनुरूप क्रियाएँ करता है, तब समाजशास्त्र में इन्हीं क्रियाओं को भूमिका कहा जाता है। ओल्सेन के शब्दों में कहा जा सकता है, "सामाजिक भूमिका कुछ प्रत्याशाओं और क्रियाओं की वह परस्पर सम्बन्धित व्यवस्था है, जिसे सामाजिक संगठन का सबसे आंतरिक अंग कहा जा सकता है।'

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण समाजिक व्यवस्था प्रस्थिति और भूमिका दोनों के संतुलन पर निर्भर

होती है।

लिण्टन के अनुसार, "भूमिका शब्द का प्रयोग किसी प्रस्थिति से सम्बन्धित सांस्कृतिक प्रतिमान की समग्रता के लिए किया जाता है। इस प्रकार भूमिका के अन्तर्गत हम उन सभी मनोवृत्तियों, सामाजिक मूल्यों और व्यवहारों को सम्मिलित करते हैं जो किसी विशेष प्रस्थिति से सम्बन्धित व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को समाज द्वारा प्रदान की जाती है।"इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक प्रस्थिति का एक विशेष मूल्य होता है। भूमिका का अर्थ इसी मूल्य को बनाए रखना अथवा इस प्रकार कार्य करना है जिससे उस प्रस्थिति विशेष के मूल्य पर कोई आघात न पहुँचे। इसी आधार पर लिण्टन ने यह निष्कर्ष दिया है कि" प्रत्येक प्रस्थिति एक विशेष प्रकार की भूमिका से सम्बद्ध रहती है।

भूमिका की धारणा को और अधिक स्पष्ट करते हुए सार्जेण्ट का कथन है, "किसी व्यक्ति की भूमिका सामाजिक व्यवहार का ही एक प्रतिमान अथवा प्रारूप है; जिसे वह अपने समूह के सदस्यों की प्रत्याशाओं के अनुसार एक विशेष परिस्थिति में ठीक समझता है।"

इस का तात्पर्य यह है कि समूह हर एक व्यक्ति से उसकी स्थिति को ध्यान में रखकर एक विशेष प्रकार के व्यवहार की आशा रखता है। यह व्यवहार वे होते हैं जो उस समूह की संस्कृति अथवा परिस्थिति के अनुसार ठीक समझे जाते हैं। इन्हीं को हम व्यक्ति की भूमिका कहते हैं।

### भूमिका की विशेषताएँ (Characteristics of Role)

सामाजिक भूमिका की उपर्युक्त धारणा को इसकी निम्नलिखित विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है-

1. भूमिका का तात्पर्य उन अनेक व्यवहारों की सम्पूर्णता से है, जिन्हें एक विशेष प्रस्थिति से सम्बन्धित होने के करण व्यक्ति से पूरा करने की आशा की जाती
2. हम दूसरे व्यक्तियों से जिस भूमिका की आशा करते हैं, वह हमारी एक विशेष संस्कृति से सम्बन्धित मूल्य पर निर्भर है।
3. प्रत्येक व्यक्ति से एक विशेष भूमिका को पूरा करने की आशा दो कारणों से की जाती है-

क- एक तो इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति सामाकि मूल्यों के अनुसार व्यवहार करे, और। ख-दूसरा इसलिए कि समाज में संगठन बना रहे।

4. सामाजिक प्रस्थिति की तरह भूमिका भी दो प्रकार की होती है-प्रदत्त और अर्जित। एक स्थिति के सभी व्यक्तियों की प्रदत्त भूमिका तो समान होती है लेकिन अर्जित भूमिका में कुछ अंतर होने के कारण ही सभी का व्यक्तित्व एक-दूसरे से कुछ भिन्न मालूम होता है। उदाहरण के लिए केन्द्र में सभी मंत्रियों की स्थिति समान है, इसलिए उनकी प्रदत्त भूमिका भी समान होती है। लेकिन सभी मन्त्री अपनी कुशलता के अनुसर अपनी भूमिका का निर्वाह भिन्न रूप से करते हैं। यह उनकी अर्जित भूमिका है; जिसके कारण उनको मिलने वाला सम्मान एक-दूसरे से भिन्न होता है।
5. एक व्यक्ति की भूमिका प्रत्येक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न होती है; जैसे-परिवार, क्लब, विद्यालय, धार्मिक संघ और आर्थिक संगठनों में व्यक्ति से भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमिका की आशा की जा सकती है। प्रत्येक भूमिका व्यक्ति से एक विशेष प्रकार के व्यवहार की माँग करती है। यही

कारण है कि समाज में एक व्यक्ति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है।

6. सामाजिक भूमिका स्थिर नहीं होती; इसमें समय के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति समाज और संस्कृति से जैसे-जैसे अधिक अनुकूलन करता जाता है, उसके द्वारा की जाने वाली भूमिका में भी परिपक्वता आती जाती है।
7. व्यक्ति से यद्यपि यह आशा की जाती है कि वह अपनी सभी भूमिकाओं का पूरी तरह से निर्वाह करेगा, लेकिन व्यवहारिक रूप से सभी भूमिकाओं को समान रूप से पूरा करना बहुत कठिन होता है। व्यक्ति को जिस भूमिका में जितनी अधिक रुचि होती है उसका निर्वाह वह उतनी ही अच्छी तरह से करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी व्यक्ति की भूमिका का उसकी रुचियों, मनोवृत्तियों और योग्यता से विशेष सम्बन्ध होता है।
8. सामाजिक भूमिका की एक प्रमुख विशेषता यह है कि महत्त्व की दृष्टि से सभी भूमिकाएँ समान प्रकृति की नहीं होती हैं। कुछ भूमिकाएँ सामान्य होती हैं जबकि कुछ महत्त्वपूर्ण। कुछ भूमिकाओं में अधिक दायित्व और श्रम निहित होता है जबकि कुछ का निर्वाह बहुत सरलता से किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से भूमिकाओं को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है; जैसे क-प्रमुख भूमिकाएँ ख-सामान्य भूमिकाएँ। प्रमुख भूमिकाएँ वे हैं, जिनका सम्बन्ध सांस्कृतिक मूल्यों और व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति से होता है। इसके पश्चात् भी व्यक्तित्व का निर्माण अन्य बहुत सी छोटी-बड़ी भूमिकाओं से होता है, इन्हीं को सामान्य भूमिकाएँ कहा जाता है।

## प्रस्थिति व भूमिका का सम्बन्ध (Relation between Status and Role)

प्रस्थिति एवं भूमिका में हमेशा भेद किया जाता है। प्रस्थिति एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है, यह एक सामाजिक-सांस्कृतिक तथ्य है; जबकि भूमिका सामाजिक मनोविज्ञान का विषय एवं प्रघटना है। विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग प्रकार से किया जाता है; इसका कारण है-व्यक्तियों के व्यक्तित्वों, क्षमता एवं व्यवहार में भिन्नता का होना। यही कारण है कि राष्ट्रपति या प्राचार्य के पद की भूमिका सभी लोग समान रूप से नहीं निभा पाते। प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका दूसरे व्यक्ति से भिन्न होती है। इसका एक कारण यह है कि समूह एवं संगठन के विकास के साथ-साथ उसके पदाधिकारियों के कार्यों एवं दायित्वों में भी परिवर्तन आ जाता है, इसीलिए कहते हैं कि भूमिका प्रस्थिति का गतिशील पहलू है।

प्रस्थिति एवं भूमिका के सम्बन्ध सदैव स्थिर न होकर बदलते रहते हैं। नये विचारों नये मूल्यों एवं मान्यताओं के आधार पर सम्बन्ध परिवर्तित होते रहते हैं। मजदूर एवं मालिक के सम्बन्ध जैसे मध्य युग में थे, वैसे आज के औद्योगिक युग में नहीं है। पति-पत्नी, माता-पिता और सन्तान के सम्बन्ध, शासक और जनता के सम्बन्ध, गुरु और शिष्य के सम्बन्ध जैसे वैदिककाल में थे, वैसे आज नही हैं। इनमें से कई प्रस्थितियों की प्रतिष्ठा एवं भूमिकाओं में अन्तर आया है।

प्रस्थिति एवं भूमिका में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि दोनों को एक ही सिक्के के दो पहलू कहा जाता है। कुछ लोग कहते हैं "बिना प्रस्थिति के कोई भूमिका नहीं होती और बिना भूमिका के कोई प्रस्थिति नहीं होती।" उदाहरण के लिए यदि किसी संस्था में प्राचार्य की प्रस्थिति ही न हो, तो कोई भी व्यक्ति बिना प्राचार्य की भूमिका निभाए प्राचार्य कैसे हो सकता है। किन्तु बीरस्टीड इस मत से सहमत नहीं है, वे कहते हैं कि दोनों

ही पृथक्-पृथक् भी हो सकते हैं; जैसे विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर द्वारा पद त्याग देने पर नए वाइस चांसलर की नियुक्ति तक प्रशासन द्वारा उसके कार्यों का बँटवारा कर दिया इस स्थिति में वाइस चांसलर की भूमिका निभाने वाले व्यक्ति को न तो हम वाइस चांसलर ही कह सकते हैं और न ही उसे वे सारी सुविधाएँ ही प्राप्त होती हैं, जो वास्तविक वाइस चांसलर को प्राप्त होती हैं।

इसी प्रकार से बिना एक प्रस्थिति को धारण किए भी एक व्यक्ति; पद से सम्बन्धित भूमिका निभा सकता है। उदाहरण के लिए प्राचार्य के छुट्टी चले जाने पर अन्य प्राध्यापक और डॉक्टर के छुट्टी चले जाने पर कम्पाउंडर उसकी भूमिका निभा सकते हैं। फिर भी वे प्राचार्य या डॉक्टर नहीं कहला सकते हैं। इसलिए ही बीरस्टीड कहते हैं, “प्रस्थिति संस्थागत भूमिका है।” फिर भी प्रस्थिति और भूमिका एक-दूसरे के पूरक और परस्पर सम्बन्धित तथ्य हैं।

## इकाई-13

### प्रस्थिति एवं भूमिका का समाजशास्त्रीय महत्व
### (Sociological Importance of Status and Role)

समाजशास्त्रीय दृष्टि से प्रस्थिति एवं भूमिका का बहुत महत्व है। इसके महत्व को निम्नांकित बिन्दुओं द्वारा जाना जा सकता है-

1. समाज में संघर्ष की सम्भावनाएँ कम करना-प्रस्थिति तथा भूमिका समाज में संघर्ष की सम्भावनाएँ कम करते हैं। प्रस्थीत एवं भूमिका सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक संगठन दोनों को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। इस प्रकार इन दोनों के तालमेल से समाज में संघर्ष की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं तथा सामाजिक व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहती है।
2. सामाजिक नियन्त्रण में सहायक-प्रस्थिति एवं भूमिका; नियन्त्रण में भी सहायक होती है। इनका सम्बन्ध उन सामाजिक नियमों एवं प्रतिमानों से होता है; जिसकी प्रत्येक व्यक्ति से निभाने की अपेक्षा की जाती है। इससे सामाजिक नियन्त्रण स्वतः हो जाता है।
3. व्यक्ति के अपेक्षित व्यवहार का अनुमान किसी व्यक्ति की प्रस्थिति एवं भूमिका के द्वारा उसके द्वारा किए जाने वाले अपेक्षित व्यवहार का अनुमान लगाया जा सकता है; जैसे-राज्यपाल अथवा राष्ट्रपति पद की भूमिका के अनुसार अपेक्षित व्यवहार का अन्दाज लगाया जा सकता है।
4. मार्गदर्शन देना-प्रस्थिति एवं भूमिका व्यक्ति को यह मार्गदर्शन देती है कि उसे किस प्रस्थिति में किस प्रकार की भूमिका निभानी है।
5. विशेष मनोवृत्तियाँ उत्पन्न करना-प्रस्थिति एवं भूमिका के अनुसार किसी व्यक्ति में विशेष मनोवृत्ति उत्पन्न होती है। अध्यापक, व्यवसायी, इन्जीनियर, डॉक्टर आदि की मनोवृत्तियाँ; उनकी प्रस्थिति एवं भूमिका के अनुसार ही निर्धारित होती है।
6. श्रम-विभाजन-प्रस्थिति एवं भूमिका सामाजिक कार्यों का विभाजन स्वतः ही कर देती हैं। इससे समाज का श्रम विभाजन सरलता से हो जाता है।
7. व्यक्ति का समाजीकरण करने में सहायक-प्रस्थिति एवं भूमिका व्यक्ति का समाजीकरण करने में भी सहायक होती है क्योंकि प्रारम्भ से ही ये व्यक्ति वातावरण में विद्यमान रहती हैं तथा व्यक्ति स्वतः ही उनके अनुसार आचरण करना सीख जाता है।
8. व्यक्ति को प्रगति के लिए जागरूक बनाना-प्रस्थिति एवं भूमिका व्यक्ति को उसकी प्रगति के लिए भी

जागरूक बनाती हैं। निम्न प्रस्थिति होने पर व्यक्ति उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है।

9. सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह में सहायक-व्यक्ति अपनी प्रस्थिति एवं भूमिका के अनुसार स्वतः ही तदनुसार आचरण करने लगता है; जैसे-पिता बनते ही व्यक्ति को बच्चे के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का अहसास हो जाता है। इस प्रकार प्रस्थिति एवं भूमिका सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह में भी सहायक है।

## सारांश

प्रस्थिति एवं भूमिका में हमेशा भेद किया जाता है। प्रस्थिति एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है, यह एक सामाजिक, सांस्कृतिक तथ्य है; जबकि भूमिका सामाजिक मनोविज्ञान का विषय एवं प्रघटना है। विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग प्रकार से किया जाता है। इसका कारण है-व्यक्तियों के व्यक्तित्वों, क्षमता एवं व्यवहार में भिन्नता का होना। यही कारण है कि राष्ट्रपति या प्राचार्य के पद की भूमिका सभी लोग समान रूप से नहीं निभा पाते। प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका दूसरे व्यक्ति से भिन्न होती है। इसका एक कारण यह है कि समूह एवं संगठन के विकास के साथ-साथ उसके पदाधिकारियों के कार्यों एवं दायित्वों में भी परिवर्तन आ जाता है। इसीलिए भूमिका प्रस्थिति का गतिशील पहलू है।

**स्व-प्रगति की जाँच करें :**

1. 'भूमिका' के बारे में समाजशास्त्री लिण्टन के विचार स्पष्ट करें।
2. क्या आप भी ऐसा समझते हैं कि प्रस्थिति एवं भूमिका के सम्बन्ध सदैव स्थिर न होकर बदलते रहते हैं।
3. क्या प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्व सामाजिक नियंत्रण में सहायक के रूप में है?
4. व्यक्ति का सामाजिकरण करने में प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्व सहायक के रूप में है। इस विचार को स्पष्ट करें।

## स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. "भूमिका शब्द का प्रयोग किसी प्रस्थिति से सम्बन्धित सांस्कृतिक प्रतिमान की समग्रता के लिए किया जाता है। इस प्रकार भूमिका के अन्तर्गत हम उन सभी मनोवृत्तियों, सामाजिक मूल्यों और व्यवहारों को सम्मिलित करते हैं जो किसी विशेष प्रस्थिति से सम्बन्धित व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को समाज द्वारा प्रदान की जाती है।" इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक प्रस्थिति का एक विशेष मूल्य होता है। भूमिका का अर्थ इसी मूल्य को बनाए रखना अथवा इस प्रकार कार्य करना है जिससे उस प्रस्थिति विशेष के मूल्य पर कोई आघात न पहुँचे। इसी आधार पर लिण्टन ने यह निष्कर्ष दिया है कि "प्रत्येक प्रस्थिति एक विशेष प्रकार की भूमिका से सम्बद्ध रहती है।

   भूमिका की धारणा को और अधिक स्पष्ट करते हुए सार्जेण्ट का कथन है, "किसी व्यक्ति की भूमिका सामाजिक व्यवहार का ही एक प्रतिमान अथवा प्रारूप है; जिसे वह अपने समूह के सदस्यों की प्रत्याशाओं के अनुसार एक विशेष परिस्थिति में ठीक समझता है।"

   इस का तात्पर्य यह है कि समूह हर एक व्यक्ति से उसकी स्थिति को ध्यान में रखकर एक विशेष प्रकार के व्यवहार की आशा रखता है। यह व्यवहार वे होते हैं जो उस समूह की संस्कृति अथवा परिस्थिति के अनुसार ठीक समझे जाते हैं। इन्हीं को हम व्यक्ति की भूमिका कहते हैं।

2. प्रस्थिति एवं भूमिका के सम्बन्ध सदैव स्थिर न होकर बदलते रहते हैं। नये विचारों, नये मूल्यों एवं मान्यताओं के आधार पर सम्बन्ध परिवर्तित होते रहते हैं। मजदूर एवं मालिक के सम्बन्ध जैसे मध्य युग में थे, वैसे आज के औद्योगिक युग में नहीं है। पति-पत्नी, माता-पिता और सन्तान के सम्बन्ध, शासक और जनता के सम्बन्ध, गुरु और शिष्य के सम्बन्ध जैसे वैदिककाल में थे, वैसे आज नही हैं। इनमें से कई प्रस्थितियों की प्रतिष्ठा एवं भूमिकाओं में अन्तर आया है।

3. सामाजिक नियन्त्रण में सहायक-प्रस्थिति एवं भूमिका; नियन्त्रण में भी सहायक होती है। इनका सम्बन्ध उन सामाजिक नियमों एवं प्रतिमानों से होता है; जिसकी प्रत्येक व्यक्ति से निभाने की अपेक्षा की जाती है। इससे सामाजिक नियन्त्रण स्वतः हो जाता है।
4. व्यक्ति का समाजीकरण करने में सहायक-प्रस्थिति एवं भूमिका व्यक्ति का समाजीकरण करने में भी सहायक होती है क्योंकि प्रारम्भ से ही ये व्यक्ति वातावरण में विद्यमान रहती हैं तथा व्यक्ति स्वतः ही उनके अनुसार आचरण करना सीख जाता है।

**अभ्यास-प्रश्न**

1. सामाजिक प्रस्थिति से आप क्या समझते हैं? इनके निश्चयन की विधियों का उल्लेख करें।
2. भूमिका का अर्थ स्पष्ट करें। इसकी परिभाषा दें एवं इसकी विशेषताओं का वर्णन करें।
3. प्रस्थिति तथा भूमिका में क्या सम्बन्ध है? इनका समाजशास्त्रीय महत्त्व बताएँ?

## bdkb&14 ifjokj ,o ukrnkjh

ifjokj gekj thou d lcl egRoi.k igyvk e l ,d g] tk l;kj] leFkuvkj lj{kk dh Hkkouk çnku djrk gA Nk=k vkj cPpk d fy,] ,detcr ifjokj HkkoukRed fodkl vkj dY;k.k dk c<krk gA ;g HkkoukRed leFku çnku djrk g] eY;k vkj ufrdrkvk dk fl[kkrk g] vkj f'k{kk vkj lkekftd fodkl e egRoi.k Hkfedk fuHkkrk gA ifjokj igpkufuek.k e ;kxnku nr g] fu.k; yu e enn djr g] vkj LFkk;h ;kn cukr gA bl çdkj] cPpk d fy, viu ifjo'k dh ljkguk dju vkjHkfo"; dh pukfr;k d fy, r;kj gku d fy, ifjokj d egRo dk le>ukvko';d gA dy feykdj] ,d lgk;d ifjokj ,d LoLFk Hkfo"; d fy, vk/kkj r;kjdjrk gA

gekjk ifjokj gekj thou dh lcl egRoi.k phtk e l ,d gA 'kk/kdrkvk u ik;k g fd mUgku ftu Hkh lektk dk v/;;u fd;k g] mue ifjokj 0;fä;k dh lQyrk e egRoi.k Hkfedk fuHkkrk gA NkV cPpk ij ifjokj dk çHkko thou Hkj xgj vkj dæh; rjhd l jgrk gA LoLFk ifjokj LoLFk lekt dh vk/kkjf'kyk gkr gA 1938 e fd, x, gkoM fo'ofo|ky; d ,d v/;;u u lQy cPpk dh ijofj'k dk jgL; tkuu dh dkf'k'k dhA gkoM xkV LVMh e nk lk vMlB i#"k gkoM Nk=k dk lÙkj lky rd Vd fd;k x;k] tk viuh rjg dk igyk FkkA

v/;;u e ekufld vkj 'kkjhfjd LokLF; d lkFk&lkFk mudh lQyrkvk vkj vlQyrkvk dk Hkh fo'y"k.k fd;k x;kA ,d fu"d"k Li"V Fkk: ifjokj egRoi.k g D;kfd ,d lQy vkj [k'kgky thou ,d l;kj Hkj ifjokj vkj LoLFk lc/kk ij fuHkj djrk gA cPpk dk igyk fj'rk mud ekrk&firk d lkFk gkrk gA viu ekrk&firk d lkFk mudk tk c/ku curk g] og mud [kn dk vkj nljk dk n[ku d rjhd dk vkdkj nrk gA tc mud chp etcr fj'r gkr g] rk cPpk e lj{kk dh Hkkouk fodflr gku dh lHkkouk vf/kd gkrh gA bu fj'rk dh x.koÙkk o;Ldrk e ?kfu"B lc/k cuku vkj cuk, j[ku dh {kerk dk fu/kkfjr djrh gA

cPp d 'k#vkrh vuHko 0;ogkj] lh[ku vkj LokLF; d fy, ,d etcr ;k detkj uho LFkkfir djr gA ekrk&firk mud igy f'k{kd vkj jkyk e,My gkr g] vkj le; d lkFk mud fnekx vkj {kerk,] fodflr gkrh gA fLFkj] ikyu&ik"k.k dju oky vkj mÙkjnk;h ekrk&firk] lkFk gh ,d ldkjkRed ikfjokfjd vuHko] LoLFk efLr"d fodkl e ;kxnku djr gA ,d LoLFk ifjokj cgrj HkkoukRed fofu;eu] 'k{kf.kd çn'ku] lkekftd {kerk vkj yphykiu dh vkj y tkrk gA

u doy bruk gh cfYd ldkjkRed lc/kk okyk ,d etcr ifjokj gkuk lh/k rkj ij fd'kkjk d volkn vkj vijk/k vkj vlkekftd 0;ogkj d fuEu Lrjk l lcf/kr gA vPNh ikfjokfjd ijijk,] igpku dh Hkkouk dk c<kok nrh g vkj vkRe&lEeku dk c<kok nrh gA ldkjkRed ikfjokfjd lc/k vkpj.k lc/kh fodkjk d fuEu Lrj dh vkj y tkr g vkj ikfjokfjd etcrh dk c<kok nr g] tk mUg dfBu le; vkj 0; o/kkuk dk lgu e enn djrk gA

tlk fd vki vueku yxk ldr g] v/;;uk e u doy ldkjkRed çHkko ik, x,] cfYd fd'kkjkoLFkk d nkjku ij'kku ifjokjk e udkjkRed ikfjokfjd lc/kk dk fd'kkjk d vkox fu;=.k vkj o;Ldk d :i e mud ekufld vkj HkkoukRed LokLF; ij udkjkRed çHkko iMrk gA

## परिचय (Introduction)

प्राणिशास्त्रीय सम्बन्धों के आधार पर बने हुए समूहों में परिवार सबसे छोटी इकाई है। मानव की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक आधारभूत और सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। संस्कृति के सभी स्तरों में चाहे उन्हें उन्नत कहा जाए या निम्न; किसी न किसी प्रकार का संगठन जरूर पाया जाता है। हम यह भी कह सकते हैं कि शारीरिक आवश्यकताओं एवं काम-वासना की पूर्ति ने ही परिवार को जन्म दिया है। परिवार ही नवजात शिशुओं और गर्भवती महिलाओं की देखभाल करता है एवं यौन सम्बन्धों व सन्तानोत्पत्ति का नियमन कर उन्हें सामाजिक मान्यता प्रदान करता है। मैलिनोवस्की कहते हैं कि" परिवार ही एक ऐसा समूह है, जिसे मनुष्य पशु अवस्था से अपने साथ लाया है।" मरडाक ने 250 परिवारों का अध्ययन करने पर पाया कि कोई भी समाज ऐसा नहीं है; जिसमें परिवार रूपी संस्था की अनुपस्थिति हो।

## परिवार का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Family)

Family शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के Famulus शब्द से हुई है जो ऐसे समूह के लिए प्रयोग किया गया है जिसमें माता-पिता, बच्चे व नौकर सम्मिलित हों। साधारण अर्थों में विवाहित जोड़ों को परिवार की संज्ञा दी जाती है लेकिन समाजशास्त्रीय अर्थों में यह ठीक नहीं है क्योंकि एक परिवार में पति-पत्नी के साथ बच्चों का होना भी अति आवश्यक है। यदि इनमें से एक का भी अभाव है तो उन्हें हम गृहस्थ कहेंगे।

मैकाइवर और पेज के अनुसार, "परिवार पर्याप्त निश्चित यौन सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है, जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।'

"The family is a group[ defined by a sex ralationship sufficiently precise and enduring to provide for the procrcation and upbringing of the children".

Maclver and Page, Society, P. 238

लूसी मेयर ने लिखा है, परिवार एक गृहस्थ समूह है; जिसमें माता-पिता और बच्चे साथ-साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दम्पत्ति और उसकी सन्तान रहते हैं।"

मरडाक के अनुसार, "परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसके लक्षण सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग और जनन हैं। इसमें दो लिंगों के वयस्क शामिल हैं; जिनमें कम से कम दो व्यक्तियों के द्वारा स्वीकृत यौन सम्बन्ध होता है और जिन अधिक वयस्क व्यक्तियों में यौन सम्बन्ध हैं; उनके अपने या गोद लिए हुए एक-या-कई बच्चे होते हैं।

"The family is a social group characterized by common residence, economic cooperation and reproduction. It includes adults of both sexes, atleast two of whom maintain a socially approved sexual relationship and one or more children, own or adopted of the sexually Cohabiting adults."

**-Murdock, G.P.**: Social Structure. P.1

डॉ. दुबे के अनुसार, "परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को समान सदस्यता प्राप्त रहती है, उसमें से कम से कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनसे संसर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि परिवार एक समूह, एक संघ और एक संस्था के रूप में समाज में विद्यमान है। प्रत्येक परिवार के दो पक्ष होते हैं-

(1) संरचनात्मक (Structural)

(2) प्रकार्यात्मक (Functional)

संरचनात्मक दृष्टि से परिवार की संरचना पति-पत्नी और बच्चों से मिलकर हुई है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिवार में कम से कम तीन प्रकार के सम्बन्ध विद्यमान हैं-

(i) पति-पत्नी के सम्बन्ध (Husband and wife relations)

(ii) माता-पिता एवं बच्चों के सम्बन्ध (Parents and Children relations)

(iii) भाई-बहनों के सम्बन्ध (Siblings relations)

पति-पत्नी का सम्बन्ध वैवाहिक सम्बन्धों पर आधारित होता है और अन्य दोनों रक्त सम्बन्ध पर आध रित होते हैं।

प्रकार्यात्मक दृष्टि से परिवार का निर्माण कुछ मूल उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। इनका उद्देश्य यौन सम्बन्धों का नियमन करना, सन्तान उत्पन्न करना एवं उनका पालन-पोषण, शिक्षण और समाजीकरण करना व उन्हें आर्थिक, सामाजिक व मानसिक संरक्षण प्रदान करना है। इन प्रकार्यों की पूर्ति के लिए परिवार के सदस्य परस्पर अधिकारों और कर्तव्यों से बँधे होते हैं।

### परिवार की सामान्य विशेषताएँ (General Characteristicas of a Family)

मैकाइवर एवं पेज ने परिवार की कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं-

(1) विवाह सम्बन्ध-परिवार, तभी बनता है जब विवाह सम्बन्ध स्थापित हो जाने के पश्चात् पति-पत्नी साथ-साथ रहने लगते हैं।

(2) विवाह का एक स्वरूप-प्रत्येक समाज में विवाह का एक निश्चित स्वरूप होता है। वह बहु-पत्नी विवाह, बहु-पति विवाह अथवा एक पत्नी विवाह या एक पति विवाह, किसी भी रूप में हो सकता है।

(3) अर्थव्यवस्था-प्रत्येक परिवार में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोई न कोई आर्थिक क्रिया अवश्य पाई जाती है, वह नौकरी या व्यापार किसी भी रूप में हो सकती है।

(4) वंश नाम-परिवार में नवीन उत्पन्न बच्चे का नामकरण संस्कार भी होता है। यह बच्चे अपने माता-पिता के नाम से जाने जाते हैं।

(5) सामान्य निवास-प्रत्येक परिवार के सदस्य एक ही स्थान पर निवास करते है; जिसे हम घर की संज्ञा देते हैं।

### परिवार की विशिष्ट विशेषताएँ (Distinctive Features of a Family)

मैकाइवर तथा पेज ने कुछ विशिष्ट विशेषताओं का भी उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं-

(i) सीमित आकार-परिवार की सदस्यता जैविक होने के कारण परिवार में सदस्यों की संख्या सीमित होती है।

(ii) सार्वभौमिक-यह संस्था सभी कालों में व सभी समाजों में सभी स्थानों पर पाई जाती है।

(iii) केन्द्रीय स्थिति-कई परिवारों से मिलकर ही वंश, गोत्र, जाति, उप-जाति व समुदाय बनता है।

(iv) भावात्मक आधार-परिवार के समस्त सदस्यों के मध्य एक भावात्मक सम्बन्ध होता है; जो परिवार में एक-दूसरे से प्रेम, सहिष्णुता, बलिदान व सहयोग की भावना बनाए रखने के लिए प्रेरित करता है।

(v) रचनात्मक प्रभाव-एक परिवार में ही बच्चा अच्छी-बुरी बातें सीखता है व एक योग्य अथवा अयोग्य व्यक्ति बनता है। अतः परिवार ही व्यक्ति के उचित निर्माण में अपना महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करता है।

(vi) सदस्यों का उत्तरदायित्व-परिवार के सदस्यों का एक-दूसरे के प्रति उचित उत्तरदायित्व होता है और परिवार में रहते हुए सभी सदस्यों को उसका पालन करना पड़ता है।

(vii) सामाजिक नियमन-विभिन्न परम्पराओं और प्रथाओं द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने सदस्यों पर नियन्त्रण रखता है और समाज की व्यवस्था को बनाये रखने में अपना सहयोग प्रदान करता

(viii) परिवार की अस्थायी और स्थायी प्रकृति-यदि संस्था के रूप में देखें तो परिवार स्थायी है और काफी प्राचीन समय से चला आ रहा है, लेकिन संघ के रूप में व्यक्तिगत परिवार अपने किसी सदस्य की मृत्यु होने के पश्चात विघटित भी हो जाते हैं।

परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है तथा यह सामाजिक जीवन की केन्द्रीय इकाई के रूप में प्रत्येक समाज में विद्यमान है। परिवार की स्थापना के उद्देश्य प्रत्येक स्थान पर अलग-अलग हो सकते हैं, पर यह किसी न किसी यप में सभी स्थानों में पाया जाता है।

भारत में संयुक्त परिवार का अस्तित्व सम्भवतः वैदिककाल से ही है और वर्तमान समय में इसकी संरचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने के बाद भी आज के मूल परिवार संयुक्त परिवार के आदर्शों से दूर नहीं जा सकते हैं।

मैक्स मूलर ने संयुक्त परिवार को भारत की आदि परम्परा कहा है जिसे सांस्कृतिक विरासत के रूप में हम आज तक प्राप्त करते चले आ रहे हैं।

श्री पाणिक्कर महोदय का मत है कि सैद्धान्तिक रूप से तो जाति और परिवार दो अलग-अलग अवध रणाएँ हैं, पर व्यावहारिक रूप से ये दोनों आपस में इतने गुँथे हुए हैं कि एक ही सामान्य संस्था हो गई है। वास्तव में संयुक्त परिवार स्वार्थ की संकुचित सीमा से अलग एक समूह कल्याण का सुन्दर उदाहरण है।

संयुक्त परिवार का अर्थ-परिभाषाएँ-संयुक्त परिवार की परिभाषा के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों में मतभेद है। अतः विभिन्न विद्वानों ने इसे अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया है। एक ओर कुछ विद्वानों ने इसे कानूनी आधार पर स्पष्ट किया है तो अन्य विद्वानों ने इसकी परिभाषा संरचनात्मक विशेषताओं के आधार पर दी है। साधारण अर्थ में संयुक्त परिवार वह इकाई है; जिसमें स्त्री-पुरूष, पति-पत्नी, चाचा-ताऊ, भाई-भतीजे एक साथ, एक ही जगह पर निवास करते हैं तथा जिनकी सम्मिलित आय एवं सम्मिलित सम्पत्ति होती है।

कानूनी दृष्टिकोण-श्री मुल्ला (Mulla) ने हिन्दू लॉ (Hindu Law) में कानूनी दृष्टिकोण से संयुक्त परिवार को स्पष्ट करते हुए लिखा है; "संयुक्त परिवार के अन्तर्गत वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं जो समान पूर्वज के वंशज हैं, इसमें उनकी पत्नियाँ व अविवाहित लड़कियाँ भी आ जाती हैं" वे आगे लिखते हैं "विवाहित लड़कियाँ अपने पिता के संयुक्त परिवार की सदस्य नहीं रहती, वरन् अपने पति के संयुक्त परिवार की सदस्या बन जाती हैं। हिन्दू संयुक्त परिवार के सदस्य भोजन व पूजा की दृष्टि से भी संयुक्त रहते हैं और सम्पत्ति की दृष्टि से भी।"

संयुक्त परिवार की कानूनी परिभाषा से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं

(1) सामान्यतया संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक साथ भोजन करते हैं व पूजा करते हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी संयुक्त परिवार पाए जाते हैं, जिनके सदस्य अलग-अलग भोजन व पूजा करते हैं।

(2) सामान्यतया संयुक्त परिवार की सम्पत्ति भी संयुक्त होती है, परन्तु कुछ अवस्थाओं में सम्पत्ति पृथक् भी हो सकती है।

(3) यदि संयुक्त परिवार का कोई सदस्य किसी व्यापार या व्यवसाय को संयुक्त परिवार की सम्पत्ति के द्वारा चलाता है तो उससे अर्जित सम्पत्ति भी संयुक्त परिवार की सम्पत्ति होती है।

(4) यदि संयुक्त परिवार का कोई सदस्य संयुक्त परिवार की किसी सहायता के बिना कोई व्यापार या व्यवसाय चलाता है तो इस प्रकार से अर्जित धन या सम्पत्ति सम्बन्धित सदस्य की पृथक् सम्पत्ति बन जाती है।

**संरचनात्मक दृष्टिकोण-**

1. डॉ. श्रीमती इरावती कार्वे ने संयुक्त परिवार को परिभाषित करते हुए लिखा है कि" एक संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो साधारणतया एक मकान में रहते हैं और एक रसोई में पका भोजन करते हैं, जो सामान्य सम्पत्ति के स्वामी होते हैं, सामान्य पूजा में भाग लेते हैं तथा जो किसी न किसी प्रकार से एक-दूसरे के रक्त सम्बन्धी हैं।"

   A Joint family is a group of people who generally live under one roof, who eat food cooked at one hearth, who hold property in common and who par-ticipate in common worship and are related to each other as some particular type of kindred."

2. डॉ. आई.पी. देसाई (I. P. Desai)-" हम उस घराने को "संयुक्त परिवार' कहते हैं, जिसमें एकाकी परिवार की अपेक्षा वंश की गहराई अधिक होती है, जिसमें तीन या इससे अधिक पीढ़ी के लोग आपस में सम्पत्ति, आय तथा पारस्परिक अधिकारों एवं कर्तव्यों से बँधे रहते हैं।

   "We call that household a joint family which has greater generation depth than the nuclear family and the members of which are related to one another by property, income and mutual right and obligations."

3. डॉ. श्यामाचरण दुबे (Dr. S. C. Dubey)-ने संयुक्त परिवार की समन्वित परिभाषा दी है। उनके अनुसार, "यदि कोई मूल परिवार एक साथ रहते हों, उनमें निकट का सम्बन्ध हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों, तो उन्हें सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जाता है।"

4. बी. आर. अग्रवाल के अनुसार, "संयुक्त परिवार के सदस्य परिवार और धर्म, पूँजी के सामूहिक विनियोग, लाभ के सामूहिक उपयोग आदि के लिए परिवार के वयोवृद्ध सदस्य की सत्ता के अध न होते हैं तथा विवाह तथा मृत्यु के अवसर पर सामूहिक कोश से खर्च किया जाता है।"

5. श्री किंग्सले डेविस के अनुसार, "संयुक्त परिवार में एक सामान्य पुरुष, पूर्वज से युक्त पुरुष, अविवाहित सन्तानें एवं विवाह द्वारा समूह में सम्मिलित की गई स्त्रियाँ होती हैं, ये समस्त सदस्य सामान्य घर में

रह सकते हैं या आस-पास कई घरों में रह सकते हैं। प्रत्येक अवस्था में जब तक संयुक्त परिवार रहता है, तब तक इसके सदस्यों से यह आशा की जाती है कि वे अपनी आय एक जगह एकत्र करेंगे और उस सम्पूर्ण से कुल उत्पादन का अपना भाग प्राप्त करेंगे।"

6. श्री जौली (Jolly) के अनुसार, "सामान्यतया हिन्दू परिवार में चार पीढ़ियों के लोग सम्मिलित हो सकते हैं एवं सदस्यों की संख्या कुछ भी हो सकती है। न केवल माता-पिता और बच्चे, भाई और सौतेले भाई भी सामान्य सम्पत्ति पर गुजारा करते हैं, वरन् कभी-कभी आज कई परिवारों के उत्तराधिकारी और नातेदार भी उसमें शामिल हो सकते हैं।"

   "Occasionally however the family may include in the Hindu Society for generations and of course, any number of members, not only parents and chil-dren, brothers and step-brothers, live on the common property, but may some-times include ascendants, descendants and collaterals upto many generations."

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि संयुक्त परिवार तीन या तीन से अधिक पीढ़ियों के निकट सम्बन्धियों का एक ऐसा सहयोगी संगठन है; जिसमें सभी सदस्य सम्पत्ति का समान उपयोग करते हैं, साथ-साथ रहते हैं, साथ-साथ भोजन करते हैं तथा असीमित उत्तरदायित्व की भावना से बँध कर आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं।

## संयुक्त परिवार की विशेषताएँ (Characteristics of Joint Family)

हिन्दू परिवारों की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं, इन्हें संयुक्त हिन्दू परिवार के महत्वपूर्ण आधार भी कहते हैं-

(1) बड़ा आकार-संयुक्त परिवार का आकार बहुत बड़ा होता है। इसमें तीन-चार पीढ़ियों के सभी रक्त सम्बन्धी एक साथ रहते हैं। संयुक्त परिवार की सदस्य संख्या-30-40 या इससे भी अधिक हो जाती है। नगरों की अपेक्षा गाँवों में संयुक्त परिवारों की सदस्य संख्या अधिक होती है।

(2) सहयोगी अवस्था (Co-operative system)-संयुक्त परिवार का मुख्य आधार सहयोग है। वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना पर यह परिवार आधारित होता है। इसमें मिल-जुलकर सभी सदस्य कामों को करते हैं; सहयोग के आधार पर ही परिवार की समस्याओं को हल किया जाता है।

(3) सम्मिलित सम्पत्ति-परिवार की सम्पत्ति सम्मिलित होती है। अर्थात परिवार के सभी सदस्यों का संपत्ति पर समान अधिकार होता है तथा सभी सदस्य सम्मिलित रूप में इसमें वृद्धि का प्रयत्न करते हैं। इससे परिवार संगठित बना रहता है तथा यह विघटन से बच जाता है। इसके कारण किसी सदस्य का परिवार से सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो पाता तथा सम्पत्ति के बँटवारे की भी समस्या नहीं होती है। सम्मिलित सम्पत्ति होने के उपरान्त भी इसका स्वामी परिवार का कर्ता ही होता है। वैधानिक दृष्टि से भी सम्मिलित सम्पत्ति संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषता है।

(4) सम्मिलित निवास स्थान-सम्मिलित निवास संयुक्त परिवार का एक प्रमुख आधार है। सामाजिक दृष्टिकोण से भी उसी प्रकार को संयुक्त परिवार कहते हैं; जिसमें परिवार के सभी सदस्य एक ही मकान में रहते हैं। यदि परिवार की सम्पत्ति सम्मिलित हो किन्तु परिवार के सभी सदस्य अलग-अलग रहते हों तो उसे हम संयुक्त परिवार नहीं कहेंगे। यदि संयुक्त निवास को संयुक्त परिवार का प्रमुख आधार न माना जाए तो भारतवर्ष के लगभग सभी परिवार संयुक्त ही माने जाएँगे।

(5) सम्मिलित आय-संयुक्त परिवार का एक प्रमुख आधार सम्मिलित आय है। परिवार के कमाने वाले सभी सदस्य अपनी आय कर्ता को दे देते हैं। इस सम्मिलित सम्पत्ति को कर्ता अपनी इच्छानुसार व्यय करता है। सामान्यतः सदस्य अपनी पत्नी व बच्चों के लिए पृथक् खर्च नहीं करता है।

(6) समान धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियाँ (Common Religious and Social Activities)-संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक देवी-देवता की पूजा करते हैं तथा एक ही ध र्म का पालन करते हैं। सामाजिक व धार्मिक उत्सवों का भी सम्पादन एक साथ ही करते हैं।

(8) समाजवादी प्रकृति (Socialistic Nature)-संयुक्त परिवार की प्रकृति समाजवादी होती है, जिसमें कर्ता के अतिरिक्त अन्य सदस्यों को समान अधिकार प्राप्त होते हैं। परिवार के सभी सदस्यों को अपनी स्थिति के अनुसार अधिकार प्राप्त होता है तथा उसी के अनुसार कार्य करना पड़ता है। संयुक्त परिवार में सभी अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करते हैं। संयुक्त परिवार की व्यवस्था समाजवादी होती है।

(9) असीमित उत्तरदायित्व तथा परस्पर कर्तव्य बोध (Unlimited Responsibility and Mutual Obligations)-संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों में असीमित उत्तरदायित्व की भावना पाई जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार इसी भावना से प्रभावित होकर कार्य करता है तथा परिवार को संगठित रखता है। परिवार में व्यक्ति के दायित्वों और कर्तव्यों की कोई सीमा नहीं होती है। जिस परिस्थिति में जो भी काम आवश्यक होता है, वही व्यक्ति को करना पड़ता है। इस प्रकार परिवार के प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से कर्तव्य-बोध की भावना से बँधे रहते हैं तथा दूसरों के लिए त्याग करने के लिए तैयार रहते हैं। अत: सबके लिए प्रत्येक तथा प्रत्येक के लिए सबकी भावना पर संयुक्त परिवार आधारित है।

(10) परम्पराओं की प्रधानता (Importance of Traditions)-संयुक्त परिवार के सभी सदस्य सभी कार्यों को धर्म तथा परम्पराओं के आधार पर मिल-जुलकर करते हैं। परिवार-कार्य; चाहे वह बड़ा हो या छोटा परम्पराओं के आधार पर ही होता है। विवाह संस्कारों का संपादन, शिक्षा-दीक्षा आदि सभी कार्यों से सम्बन्धित परम्परात्मक व्यवहार को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

(11) उत्पादक इकाई-संयुक्त परिवार एक उत्पादक इकाई होती है। संयुक्त परिवार कृषि समाज की विशेषता है। यहाँ परिवार के सभी सदस्य मिलकर खेत जोतते हैं, बोते हैं, फसल काटते हैं तथा उपयोग करते हैं अर्थात् ये उत्पादन सम्बन्धित कार्य को मिल-जुल कर करते हैं। इसी प्रकार अन्य वर्गों में जैसे जुलाहे, धोबी, बढ़ई आदि के सम्पूर्ण परिवार मिलकर उत्पादन का कार्य मिल-जुल कर करते हैं। अतः संयुक्त परिवार में उत्पादन का कार्य मिल-जुल कर होता है तथा स्त्री-पुरुष, बच्चे सभी एक साथ संयुक्त होकर कार्य करते हैं।

(12) तुलनात्मक रूप से स्थायी (Comparative Stable)-संयुक्त परिवार अन्य संगठनों या संस्थाओं की तुलना में अधिक स्थिर होते हैं। संयुक्त परिवार का संगठन स्वार्थ की भावना पर न होकर परस्पर तथा कर्तव्य-बोध की भावना पर होता है, अतः यह स्थिर बना रहता है। इसके अतिरिक्त परिवार के सभी सदस्य कार्यों को मिल-जुलकर करते हैं तथा संयुक्त परिवार को निरन्तरता प्रदान करते हैं। संयुक्त परिवार में धर्म, परम्पराओं व लोकाचारों के आधार पर लोगों के व्यवहार पर नियन्त्रण लगाया जाता है, इससे विघटन की स्थिति पैदा नहीं होने पाती।

संयुक्त परिवार की उपर्युक्त सभी विशेषता परम्परात्मक हैं। आधुनिक संयुक्त परिवारों में ये सभी विशेषताएं देखने को नहीं मिलती हैं।

## संयुक्त परिवार के लाभ (Social Functions or Merits of Joint Family)

(1) खर्च की बचत (Savings of Expenditure)-संयुक्त परिवार में सम्मिलित आय तथा सम्मिलित खर्च होता है। परिवार के सभी व्यक्ति अपनी आय को कर्ता के पास जमा करते हैं। तथा एक सम्मिलित खर्च होने के कारण बहुत-सी बेकार वस्तुओं पर व्यय नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त एक ही वस्तु से अनेक व्यक्तियों की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं। इस दृष्टिकोण से खर्च की बचत होती है।

(2) धन का समान वितरण (Equal Distribution of Wealth)-संयुक्त परिवार में धन का समान वितरण पाया जाता है। परिवार की सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं होता। परिवार के सदस्यों की आय कम हो या ज्यादा, वह कमाता हो या नहीं सभी के बीच धन का समान वितरण माना जाता है। संयुक्त परिवार समाजवादी व्यवस्था पर आधारित है; अतः सभी को आवश्यकतानुसार समान धन प्राप्त होता है।

(3) सम्पत्ति के विभाजन से बचाव (Do not allow Division of Property)-संयुक्त परिवार सहयोगी व्यवस्था पर आधारित है; जिसमें सभी व्यक्ति मिल-जुलकर कार्य करते हैं तथा व्यक्ति पारिवारिक सम्पत्ति पर अपना समान अधिकार समझते हैं। इससे पारिवारिक सम्पत्ति के विभाजन की समस्या नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति को परम्परागत व्यवसाय करना पड़ता है, जिसका ज्ञान परिवार से प्राप्त होता है। अतः व्यक्ति कभी परिवार से पृथक् होने की बात नहीं सोचता है। गाँव में संयुक्त परिवार का विशेष महत्त्व है। यहाँ का मुख्य व्यवसाय कृषि होने के कारण सभी व्यक्ति संयुक्त रूप से खेती का कार्य करते हैं। इससे खेतों का विभाजन नहीं होने पाता है।

(4) सामाजिक बीमा (Social Insurance)-व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रकार की दुर्घटनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। ये व्यक्ति को बेकार, अपंग, बीमार आदि बना देती हैं; जिससे व्यक्ति बेरोजगार हो जाता है। ये जीवन की प्रमुख असुरक्षाएँ हैं जो व्यक्ति को असहाय, गरीब व लालची बना देती हैं, ऐसी स्थिति में व्यक्ति को भोजन, वस्त्र आदि का प्रबन्ध करना मुश्किल पड़ता है, जिससे व्यक्ति अनेक बुराइयों का शिकार हो जाता है। संयुक्त परिवार अपने सदस्यों को एक बीमा कम्पनी की तरह सामाजिक दुर्घटनाओं से सुरक्षा प्रदान करता है। वृद्धावस्था व्यक्ति के जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्या है, पर हिन्दू समाज में यह बिल्कुल समस्या नहीं है, क्योंकि परिवार में वृद्धों को सम्मानित स्थान मिला हुआ है। इससे एक ओर तो वृद्ध व्यक्तियों का पोषण होता है तथा दूसरी ओर युवा सदस्यों को वृद्ध व्यक्तियों का संरक्षण प्राप्त रहता है।

(5) विधवाओं एवं अनाथों की रक्षा (Protection to Widows and Oprhans)-संयुक्त परिवार विधवाओं एवं अनाथों को भी सुरक्षा प्रदान करता है। हिन्दू समाज में विधवा पुनर्विवाह को मान्यता प्राप्त नहीं है। विवाह को जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध माना जाता है, अतः पति की मृत्यु के बाद पत्नी दूसरा विवाह नहीं कर सकती, अतः ऐसी स्थिति में उसका सम्पूर्ण जीवन असुरक्षित होता है। ऐसी स्थिति में यदि परिवार का सहारा न हो तो स्त्रियों को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिससे उनका जीवन विघटित हो जाता है। ऐसी स्थिति में परिवार विधवाओं तथा अनाथों को संरक्षण प्रदान करता है तथा उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करता है।

(6) बच्चों के पालन-पोषण का उचित प्रबन्ध (Proper Arrangement of the upbringing of Children)-संयुक्त परिवार में बच्चों का बहुत अच्छी तरह से पालन-पोषण होता है। इतनी अच्छी

तरह से पालन किसी और संगठन में सम्भव नहीं है। बच्चों के समाजीकरण की एजेन्सियों में परिवार को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बच्चा जन्म से लेकर मृत्यु तक परिवार का सदस्य रहता है। यहाँ प्रारम्भ से ही उसे प्रेम सहयोग, अनुकूलन, सेवा, दया, दान, सद्भाव, अनुशासन, कर्तव्य आदि का पाठ पढ़ाया जाता है, जिससे उसमें अच्छे गुणों का विकास होता है। ये गुण व्यक्ति के विकास में सहायक होते हैं तथा अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। इनसे व्यक्ति में स्वार्थ, घृणा, द्वेष आदि की भावना विकसित नहीं हो पाती। संयुक्त परिवार की इसी विशेषता के कारण इसे मानव जीवन की पाठशाला कहा जाता है।

(7) व्यक्तिवादी भावना पर नियन्त्रण (Check of Individualistic feeling)-संयुक्त परिवार सहकारिता की भावना पर आधारित है, अतः यह व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति पर बल नहीं देता है। यह सामान्य हितों की पूर्ति पर अधिक बल देता है। संयुक्त परिवार में व्यक्ति मिल-जुलकर एक-दूसरे के कार्यों को करते हैं तथा एक-दूसरे की इच्छाओं की पूर्ति में मदद करते हैं। यहाँ सहयोग, त्याग, सहनशीलता आदि गुणों का विकास होता है; जिससे व्यक्तिवादिता की भावना विकसित नहीं हो पाती।

(8) मनोरंजन का साधन (Means of Recreation)-संयुक्त परिवार मनोरंजन का सबसे अच्छा साधन है। संयुक्त परिवार किस्से-कहानियों, लोकगीतों, धार्मिक तथा पौराणिक गाथाओं आदि के माध्यम से बच्चों का मनोरंजन करता है, जो मनोरंजन के स्वस्थ साधन हैं। यह बच्चों को मनोरंजन के साथ-साथ उपदेश भी देते हैं। इसके अतिरिक्त संयुक्त परिवार में सभी लोग मिल-जुलकर रहते। जहाँ लोग बच्चों की तोतली बोली, मनोरंजक क्रिया-कलाप, हँसी-मजाक आदि के माध्यम से अपना मनोरंजन करते हैं।

(9) बड़े-बूढ़ों के उपदेश (Advice of the Elders)-वृद्ध व्यक्तियों को जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण अनुभव प्राप्त होते हैं। वृद्ध व्यक्तियों के अनुभव का लाभ उठाते हुए व्यक्ति संयुक्त परिवार से सम्बन्धि त सभी कार्यों को सरलतापूर्वक कर सकते हैं। परिवार के वृद्ध व्यक्ति अपने अनुभव के आधार पर विभिन्न कार्यों को करने का निर्देश देते हैं। इनके इन बहुमूल्य उपदेशों की सहायता से जीवन का समुचित विकास सम्भव होता है। बच्चों के मार्ग-दर्शन का कार्य भी वह लोग करते हैं, क्योंकि बच्चे का यदि उचित मार्गदर्शन न किया जाए तो वह आसानी से गलत रास्ते पर जा सकता है।

(10) परम्पराओं की रक्षा (Maintenance of Traditions)-संयुक्त परिवार में दो या दो से अधि क पीढ़ी के लोग एक साथ रहते हैं तथा यह सभी व्यक्ति एक ही प्रकार की परम्पराओं और प्रथाओं के बीच कार्य करते हैं। परिवार का पेशा भी परम्परागत होता है। इस प्रकार परिवार की परम्परागत विशेषताएँ स्वतः ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती हैं तथा परिवार के सदस्य इन्हें सीख जाते हैं, इससे व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार सुविधापूर्वक कार्य करता रहता है तथा व्यक्ति का जीवन सुरक्षित बना रहता है।

(11) संस्कृति की शिक्षा (Education of Culture)-संयुक्त परिवार अपने सदस्यों को संस्कृति की भी शिक्षा देता है। समाज ने एक लम्बे समय में जिन सांस्कृतिक गुणों का विकास किया है, उनकी व्यावहारिक शिक्षा परिवार द्वारा दी जाती है। संयुक्त परिवार अपने सदस्यों को धर्म, कर्म, वर्ण, आश्रम आदि के नियमों से अवगत कराता है तथा उसी के अनुरूप कार्य करने की शिक्षा देता है। जो व्यक्ति इन नियमों का पालन नहीं करते हैं, उन्हें दण्ड भी देता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार संस्कृति की शिक्षा ही नहीं देता वरन् उसे स्थायी बनाए रखने का प्रयास भी करता है।

(12) राष्ट्रीय एकता को प्रेत्साहन (Encouragement to National Integration)-संयुक्त परिवार त्याग और सहकारिता का पाठ पढ़ाता है तथा सामुदायिक जीवन की व्यावहारिक शिक्षा देता है, इससे राष्ट्रीय एकता की भावना विकसित होती है।

(13) नवीन वर-वधू पर हल्का भार-संयुक्त परिवारों में प्रायः यह भी देखने को मिलता है कि नव विवाहितों को सुख एवं आनन्ददायक दाम्पत्य जीवन बिताने के लिए पूर्ण अवसर दिया जाता है। ऐसे परिवारों में गृहस्थी का बोझ कुछ दिनों तक कम ही रखा जाता है।

उपर्युक्त लाभों के अतिरिक्त संयुक्त परिवार अपने सदस्यों में राष्ट्र-प्रेम तथा अनुशासन की भावना विकसित करने में भी सहायक होते हैं। संयुक्त परिवार व्यक्तिवाद की भावना को नष्ट कर समष्टि भावना उत्पन्न करता है।

## संयुक्त परिवार के दोष (Demerits of Joint Family System)

वर्तमान समय में संयुक्त परिवार की प्रथा व्यावहारिक रूप से मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असफल है। यह प्रथा उपयोगी होते हुए भी धीरे-धीरे विनाश की ओर बढ़ रही है। दूसरे शब्दों में इस व्यवस्था का तीव्रता से विघटन हो रहा है। इस विघटन का प्रमुख कारण है; औद्योगीकरण और नगरीकरण। अतः संयुक्त परिवार में निम्नलिखित दोष बढ़ते ही जा रहे हैं-

(1) सामान्य निर्धनता (General Poverty)-संयुक्त परिवार सामान्यतया निर्धन होते हैं, क्योंकि यहाँ प्रायः कमाने वालों की संख्या कम और आश्रितों की संख्या अधिक होती है। ऐसी स्थिति में ध न का संचय कम होता है। उत्तरदायित्व का अभाव और आलस्य के कारण संयुक्त परिवार शीघ्र ही दरिद्रता के गर्त में चले जाते हैं। साथ ही आज के युग में नए-नए व्यवसायों का विकास हो रहा है पर संयुक्त परिवार अब भी परम्परागत व्यवसायों को ही अपना रहे हैं, अतः उन्हें अपने व्यवसाय से कम लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार परिवार की आर्थिक स्थिति ढीली ही रहती है।

(2) कुशलता में बाधक (Hindrance to Efficiency)-संयुक्त परिवार का प्रमुख दोष यह है कि इसका वातावरण घुटनभरा व रूढ़ियों से युक्त तथा परम्पराप्रेमी भी होता है। ऐसे वातावरण में व्यक्ति की प्रतिभा का विकास नहीं हो पाता। संयुक्त परिवारों में कमाने वालों की संख्या कम होती अतः इन व्यक्तियों को कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त परिवार के खर्च की भी चिन्ता इन्हें सदैव बनी रहती है, जिसके कारण उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है और कार्य कुशलता में बाधा उत्पन्न होती है।

शर्मा और गुप्त के अनुसार, "होनहार व्यक्ति के विकास की उचित व्यवस्था संयुक्त परिवार में नहीं हो पाती, उन्हें कोई भी नवीन कार्य करने की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती, न ही उनको विकास के लिए उचित साधनों की उपलब्धि होती है। संयुक्त परिवार में वैयक्तिक स्वाधीनता नहीं होती, यही कारण है कि व्यक्तियों के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता।"

(3) गतिशीलता में बाधक (Hindrance to Mobility)-संयुक्त परिवार का बन्धन इतना कठोर होता है कि व्यक्ति की गतिशीलता सम्भव नहीं होती। व्यक्ति परिवार के साथ इतना घुल-मिल जाता है कि वह उसे छोड़ नहीं पाता। व्यक्ति आर्थिक हानि बर्दाश्त कर लेता है पर परम्परागत स्थान छोड़ना बर्दाश्त नहीं कर पाता। अतः आजीवन उसके सामने आर्थिक कठिनाइयाँ बनी रहती है।

(4) आर्थिक निर्भरता (Economic Dependency)-संयुक्त परिवार में सदस्य आर्थिक रूप से एक-

दूसरे पर निर्भर होते हैं, अतः व्यक्तियों में उत्तरदायित्व की भावना कम विकसित होती है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति किसी आर्थिक विषय पर स्वतन्त्र निर्णय लेने के योग्य नहीं होता।

(5) व्यक्तित्व के विकास में बाधा (Hindrance to Personality Development)-संयुक्त परिवार में अच्छे व्यक्तित्व के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। यह होनहार बच्चों के विकास के लिए समुचित अवसर प्रदान नहीं करता। संयुक्त परिवार में सभी बच्चों के साथ एक-सा व्यवहार किया जाता है, जिससे योग्य व्यक्तियों की प्रतिभा नष्ट हो जाती है। बालक को अपनी रुचि और मानसिक झुकाव के अनुसार शिक्षा तथा प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हो पाता है। आर्थिक दृष्टिकोण से भी किसी सदस्य को व्यक्तित्व के विकास के लिए सुविधा प्राप्त नहीं हो पाती है। इसके अतिरिक्त जो कमाने वाले व्यक्ति हैं, वे परिवार के भरण-पोषण की चिन्ता में इतने व्यस्त रहते हैं कि अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकते।

(6) द्वेष और कलह (Jealousy and Conflict)-वैसे तो संयुक्त परिवार सहकारिता पर आधारित है किन्तु व्यावहारिक रूप में यहाँ द्वेष और कलह का साम्राज्य होता है। स्त्रियों में छोटी से छोटी बात पर झगड़ा होता रहता है। अधिकांश लोग अपनी पारिवारिक स्थिति से भी असन्तुष्ट रहते हैं; अतः सदस्यों में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। इसके परिणामस्वरूप संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है। इस प्रकार संयुक्त परिवारों की वास्तविक स्थिति द्वेष, कलह, क्रूरता, अमानवीय व्यवहार आदि की है।

(7) आलसी व्यक्तियों की वृद्धि (Increase in Inactive Person)-संयुक्त परिवार में सामान्य कोष से सभी की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं, चाहे वह कमाता हो या नहीं। सभी व्यक्तियों को सरलता से खाने-पीने को मिल जाता है, अतः उनमें आलस और निकम्मेपन की भावना विकसित होती है।"बैठे मिले खाने को तो क्यों जाएँ कमाने को" धारणा से प्रभावित होकर व्यक्ति काम करने नहीं जाता, अतः आलसी व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होती जाती है। ये व्यक्ति मौज से अपना जीवन ही नहीं बिताते वरन् निकम्मी और आलसी सन्तानों को भी जन्म देते हैं। इस प्रकार संयुक्त परिवार राष्ट्र के विकास में बाधा उत्पन्न करता है।

(8) गोपनीय स्थान का अभाव (Absence of Privacy)-संयुक्त परिवार में गोपनीय स्थान का अभाव पाया जाता है। सभी व्यक्ति छोटे-बड़े एक ही स्थान पर छोटी-सी जगह में रहते हैं। इससे पति-पत्नी विशेषकर नव-विवाहित दम्पत्तियों को विशेष कष्ट होता है। वे स्वतनत्रता एक-दूसरे से नहीं मिल पाते। इससे उनके ऊपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याएँ जन्म लेती हैं, इससे बच्चों का भी उचित विकास नहीं हो पाता तथा वे परिवार में उचित और अनुचित कार्यों को देखते व सुनते हैं। जिसका उन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि,"संयुक्त परिवार में पति-पत्नी इतनी कृत्रिम और अस्वाभाविक परिस्थितयों में मिलते हैं जिससे कि उनमें प्रेम का विकास तो दूर की बात है, मामूली परिचय भी बहुत कम हो पाता है।

(9) सामाजिक समस्याओं का केन्द्र (Centre of Social Problems)-संयुक्त परिवार में कार्यों का सम्पादन रूढ़ियों तथा परम्पराओं के आधार पर होता है, इससे परिवार में समय के अनुरूप परिवर्तन नहीं हो पाता तथा परिवार नई परिस्थितियों से अनुकूलन नहीं कर पाते हैं। इससे परिवार में अनेक

प्रकर की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, जो धीरे-धीरे गम्भीर रूप धारण कर लेती हैं, इनमें से बाल-विवाह, सती-प्रथा, दहेज-प्रथा, विवाह-विच्छेद आदि प्रमुख हैं। रूढ़िवादिता तथा कर्मकाण्डता को भी संयुक्त परिवारों से ही प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार नाना प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न करता है।

(10) कर्ता की स्वेच्छाचारिता (Dictatorship of Karta)-संयुक्त परिवार में कर्ता की स्वेच्छाचारिता का राज्य होता है, वह मनमाने तरीके से व्यवहार करता है। परिवार का कर्ता जो भी चाहता है, वही करता है, उस पर किसी का अंकुश नहीं होता है। वह निरंकुश शासक की तरह कार्य करता है तथा परिवार के सभी सदस्यों को उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करना पड़ता है।

(11) स्त्रियों की दुर्दशा (Pitiable Condition of the Women)-परिवार में स्त्रियों की स्थिति दयनीय होती है। स्त्रियों की दुर्दशा संयुक्त परिवार का अंग बन गई है। इनकी स्थिति परिवार में सबसे निम्न होती है। इन पर सास-ननद का अधिकार ही नहीं होता वरन् वह इन पर अत्याचार भी करती हैं। इनके साथ दासी जैसा व्यवहार किया जाता है। नव-विवाहित स्त्रियाँ न जाने कितने अरमानों के साथ अपने दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करती हैं, पर वहाँ उनकी इच्छाओं, अभिलाषाओं पर वज्रपात होता है तथा उन्हें अनेक यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। बात-बात में उनकी आलोचना की जाती है तथा उनका अपमान किया जाता है। पारिवरिक मामलों में उनकी राय नहीं ली जाती है। बच्चे के पालन-पोषण व विकास में भी इनका कोई योगदान नहीं होता। इस प्रकार संयुक्त परिवार में स्त्रियों का शोषण होता है।

(12) अधिक सन्तानों का जन्म (Gives Birth to More Children)-संयुक्त परिवारों में बच्चों की संख्या अधिक होती है। बाल-विवाह तथा उत्तरदायित्व की भावना की कमी के कारण व्यक्ति अधि क सन्तानों को जन्म देता है। वह उनके पालन-पोषण के बारे में चिन्तित नहीं रहता, क्योंकि वह समझता है कि परिवार में बच्चे का पालन-पोषण तो हो ही जायेगा। संयुक्त परिवारों में मनोरंजन का एकमात्र साधन यौन-सम्बन्धों की पूर्ति होता है; इससे भी बच्चों की संख्या बढ़ती है।

(13) बाल-विवाह को प्रोत्साहन (Encouragement to Children Mariage)-संयुक्त परिवार में छोटे-छोटे बच्चों का विवाह हो जाता है। यहाँ विवाह कर्ता की इच्छा पर होता है। इससे नव-दम्पत्तियों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है तथा बच्चों की संख्या अधिक होती है। बाल-विवाह से अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। जिसमें बाल विधवा की समस्या प्रमुख है।

(14) भय का वातावरण-संयुक्त परिवार में प्रधान का निरंकुश नियन्त्रण रहता है। इसकी उचित और अनुचित आज्ञाओं का पालन सबको करना पड़ता है। इस प्रकार के वातावरण से परिवार में भय का आतंक छाया रहता है। नवयुवकों का व्यक्तित्व भी दब्बू हो जाता है।

(15) अप्राकृतिक-कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार संयुक्त परिवार प्रणाली अप्राकृतिक है। उनके अनुसार जो प्यार और स्नेह बालकों के प्रति माता-पिता का, पति का पत्नी के प्रति तथा पत्नी का पति के प्रति होता है, उतना अन्य सदस्यों के प्रति नहीं हो सकता। परन्तु संयुक्त परिवार में बालक अपने माता-पिता से और पति-पत्नी आपस में प्रेम नहीं कर पाते; ऐसी दशा में संयुक्त परिवार को यदि अप्राकृतिक कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा।

## संयुक्त परिवार के विघटन के कारण
## (Factors Disintegrating Joint Family)

आधुनिक समय में संयुक्त परिवार में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। इस परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण उत्तरदायी कारक निम्नलिखित हैं-

### (1) औद्योगीकरण और नगरीकरण (Industrialization and Urbanization)-

संयुक्त परिवार के विघटन में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान औद्योगीकरण तथा नगरीकरण का होता है। औद्योगीकरण का अर्थ होता है नए-नए उद्योग-धन्धों का खुलना तथा नगरीकरण का अर्थ होता है नए-नए नगरों का विकास। ये दोनों ही एक-दूसरे से सम्बन्धित अवधारणाएँ हैं। यह निम्नलिखित रूप से संयुक्त परिवार को विघटित करती हैं

(अ) नवीन पेशों का विकास-जब नए-नए उद्योग-धन्धे खुलते हैं तो नए पेशों का निर्माण होता है। ये पेशे देश के हर क्षेत्र में विकसित हो जाते हैं। नवीन पेशों के विकसित होने के कारण ही व्यक्ति को संयुक्त परिवार से अलग रहकर आजीविका कमाने का अवसर मिलता है। इन पेशों की संख्या अत्यधिक है; अतः अधिक संख्या में लोग गाँव छोड़कर नगरों में आ जाते हैं। नगरों में व्यक्ति को मजदूरी भी अधिक मिलती है तथा परिश्रम भी कम करना पड़ता है। इसके उपरान्त नगरों का अपना आकर्षण ही अलग होता है। इन सब कारणें से प्रभावित होकर व्यक्ति गाँव के कृषि व्यवसाय को छोड़कर नगरों में बसने लगता है; जिससे संयुक्त परिवारों की संख्या कम होती जा रही है।

(ब) ग्रामीण उद्योग-धन्धों को नष्ट करके; औद्योगीकरण के विकास के साथ-साथ ग्रामीण कुटीर उद्योग-धन्धों का नाश हो रहा है। मशीन के बनी चीजें गृह उद्योग में बनी वस्तुओं की तुलना में अच्छी तथा सस्ती होती हैं, जिससे लोग मशीन की बनी वस्तुओं को ही खरीदना उचित समझते हैं। इसके कारण गृह उद्योगों का विनाश होने लगता है और इसमें लगे लोग बेकार हो जाते हैं। ये बेकार लोग नौकरी ढूँढ़ने नगरों को जाते हैं; जिससे संयुक्त परिवार टूट जाता 1

(स) स्त्रियों को नौकरी का अवसर प्रदान करके-औद्योगीकरण तथा नगरीकरण ने स्त्रियों को भी पुरुषों के समान नौकरियों के अवसर प्रदान किये हैं। स्त्रियाँ इस अवसर का लाभ उठा रही हैं तथा पुरुषों के समान ही नौकरी कर रहीं हैं, इससे स्त्रियों की आर्थिक निर्भरता कम हो गई है तथा उनकी स्वतन्त्रता व अधिकारों में वृद्धि हुई है; इससे संयुक्त परिवार का परम्परागत स्वरूप नष्ट हो रहा है।

(द) धन के महत्व का विकास-औद्योगीकरण व नगरीकरण के कारण धन का महत्त्व बढ़ा है। इससे परिवार का प्रत्येक सदस्य अधिक से अधिक धन कमाने में लगा है। अब वह अपनी आय को परिवार के अन्य सदस्यों पर खर्च नहीं करता; इससे संयुक्त परिवार का संगठन समाप्त हो रहा है। अब व्यक्ति की प्रतिष्ठा भी धन व व्यक्तिगत योग्यता पर निश्चित होती है, न कि पारिवारिक पृष्ठ-भूमि पर इससे भी संयुक्त परिवार का विघटन हो रहा है।

(य) मकानों की समस्या-नगरों में आवासीय मकानों की समस्या होती है। व्यापार-वाणिज्य आदि के विकास के कारण नगरों में घनी आबादी है, इससे नगरों में मकानों का किराया बढ़ता जा रहा है। इस कारण नगरों के लोग अधिक संख्या में एक साथ नहीं रहते। छोटे-छोटे मकानों में

लोग केवल अपनी पत्नी व बच्चों के साथ रहते हैं; इससे संयुक्त परिवारों की संख्या कम होती जा रही है।

(र) नागरिक पर्यावरण उत्पन्न करके-नगरों का पर्यावरण एक विशेष प्रकार का होता है, जो गाँवों से भिन्न होता है। नगरीय पर्यावरण संयुक्त परिवार के प्रतिकूल है। अतः मनोरंजन, व्यापार आदि अनेक प्रकार के आकर्षण गाँव वालों को आकर्षित करते हैं। नगर में अनेक प्रकर के प्रलोभन होते हैं, जिससे प्रभावित होकर व्यक्ति संयुक्त परिवार छोड़कर नगरों में आता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार का विघटन हो रहा है।

(2) परिवहन के साधनों का विकास (Development in the means of Transport)-आधुनिक समय में भारत में यातायात के साधनों का तेजी से विकास हो रहा है। इससे स्थानीय दूरी कम हो गई है तथा यात्रा भी कष्टकर नहीं रह गई है। यातायात के विकास के कारण एक ओर तो उद्योग और व्यापार का तेजी से विकास हो रहा है, दूसरी ओर व्यक्ति का एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना सरल हो गया है, व्यक्ति अब संयुक्त परिवार से पृथक् स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर रहा है तथा संयुक्त परिवार से सम्बन्ध केवल मनीआर्डर व चिटिठयों तक सीमित रह गया है।

(3) पश्चिमी विचारों का प्रभाव (Impact of Western Ideas)-पश्चिमी संस्कृति तथा विचारों का प्रभाव आज तेजी से भारतीय जनता पर पड़ रहा है; इससे भारतीय कर्तव्य और निष्ठा के पद से हट गए हैं तथा उनमें व्यक्तिवादी विचारधारा का तेजी से विकास हो रहा है। व्यक्तिगत सुख, व्यक्तिगत अधिकार, समानता आदि को अधिक महत्त्व देता है, जिससे संयुक्त परिवार टूट रहा है। पश्चिमी विचारों पर आधारित शिक्षा पद्धति भी संयुक्त परिवार को विघटित कर रही है। पश्चिमी देशों में एकाकी परिवार पाया जाता है, जहाँ केवल पति-पत्नी और अविवाहित बच्चे रहते हैं। आज भारतीयों का भी आदर्श एकांकी परिवार हो गया है; इन सबके कारण भी संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं।

(4) व्यक्तिवादिता की भावना (Feeling of Individualism)-संयुक्त परिवार सामूहिकता के आदर्श पर टिका हुआ था। सब लोग एक-दूसरे के हित के लिए सोचते थे, पर आधुनिक समय में व्यक्तिवादी विचारधारा के विकसित होने के कारण लोगों ने एक-दूसरे के हित में सोचना बन्द कर दिया है। व्यक्ति केवल अपने बारे में सोचता है, अपनी आवश्यकता पूर्ति को महत्त्व देता है, इससे चाहे दूसरे सदस्यों को कितना ही नुकसान हो। ऐसी स्थिति में जब सभी व्यक्ति अपने हित चिन्तन में लगे हों, तो संयुक्त परिवार कैसे टिका रह सकता है।

(5) सामान्य निर्धनता (General Poverty)-निर्धनता तथा महँगाई का जो रूप आज है; शायद इतना भयंकर रूप पहले कभी नहीं था। साधनों का समुचित विकास न हो सकने के कारण तथा जनसंख्या के तेजी से बढ़ने के कारण निर्धनता के परिणामस्वरूप आज व्यक्ति के सामने स्वयं का निर्वाह कठिन हो गया है, फिर वह संयुक्त परिवार के सदस्यों तथा नाते-रिश्तेदारों का भरण-पोषण कैसे करे। अतः निर्धनता के कारण संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं।

(6) जनसंख्या में वृद्धि (Increase in Population)-जनसंख्या में वृद्धि आज की भयंकर समस्या जनसंख्या में वृद्धि के कारण इसका घनत्व बढ़ रहा है, जिससे भूमि पर दबाव निरन्तर बढ़ रहा है। पारिवारिक आय कम होने के कारण लोगों की आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पाती हैं। इससे भुखमरी और बेकारी बढ़ रही है। अतः लोग संयुक्त परिवार से अलग हो रहे हैं तथा पृथक् होकर अपनी

आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास कर रहे हैं।

(7) परिवार के कामों में कमी (Reduction in Family Function)-परम्परागत संयुक्त परिवार में व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक कार्य परिवार द्वारा किए जाते थे। चूँकि जीवन से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन संयुक्त परिवार में ही होता था, अतः लोग संयुक्त परिवार में रहना आवश्यक समझते थे। आज परिवार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों का हस्तान्तरण दूसरी संस्थाओं को हो गया है। अतः व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति संयुक्त परिवार में बने रहकर पूरा होना सम्भव नहीं है, व्यक्ति अपने निजी प्रयत्नों से अनेक कार्यों को करने में सफल होगा, अतः संयुक्त परिवार के कार्यात्मक महत्त्व में कमी होने के कारण लोग इसकी सदस्यता त्याग रहे हैं, अतः इसकी संरचना में भी परिवर्तन हो रहा है।

(8) स्त्रियों में कलह (Feministic Quarrelling)-संयुक्त परिवार में अत्यधिक झगड़े होते थे; जिनमें स्त्रियों के मध्य तो सबसे अधिक झगड़े होते थे। यह छोटी से छोटी बातों में भी झगड़ती थीं तथा परिवार के वातावरण को दूषित करती थीं। इनके कारण कभी-कभी पुरुषों में भी लड़ाई होती थी, अतः इस कलहयुक्त वातावरण से मुक्ति पाने के लिए पुरुष प्रायः संयुक्त परिवार छोड़कर अलग रहने लगे।

(9) स्त्रियों की जागरूकता (Awareness of Ladies)-अनेक महिला आन्दोलनों के प्रभाव के कारण स्त्रियों में जागरूकता आई है तथा उनमें नई चेतना का संचार हुआ है। वे अपने अधिकार और कर्त्तव्य के प्रति सजग हो गई हैं। नवीन शिक्षा प्रणाली ने इन्हें समानता का पाठ पढ़ाया है, अतः वे अब परिवार का शोषण बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्होंने अपने जीवन की जंजीर को तोड़ दिया है तथा अब वे पुरुषों के समकक्ष आ गई हैं; ऐसी स्थिति में संयुक्त परिवार का बना रहना सम्भव नहीं है।

(10) सामाजिक अधिनियमों का प्रभाव (Impact of Social Legislation)-अँग्रेजी शासन के बाद संयुक्त परिवार का विघटन प्रारम्भ हुआ है तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह प्रक्रिया तेज हो गई है। भारत सरकार ने ऐसे अनेक अधिनियम बनाए हैं जो संयुक्त परिवार की संयुक्त प्रकृति को आघात पहुँचाते हैं। इस सम्बन्ध में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम (1956) तथा हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम (1937) प्रमुख हैं; जिन्होंने परिवार की संयुक्त सम्पत्ति को नष्ट कर दिया है, इससे कर्ता की स्वेच्छाचारिता समाप्त हो गई तथा परिवार के सभी लोग सम्पत्ति में से अपने हिस्सा माँगने लगे। इसके अतिरिक्त हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम (1956), विशेष विवाह अधिनियम (1954), हिन्दू विवाह तथा विवाह विच्छेद अधिनियम (1955), दहेज निरोधक अधिनियम (1961) आदि ने विवाह सम्बन्धी समस्याओं को समाप्त कर संयुक्त परिवार के एकाधि कार को समाप्त कर दिया है। अब व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र में स्वतन्त्र हो गया है; अतः संयुक्त परिवार विघटित होता जा रहा है।

उपर्युक्त कारणों के आधार पर स्पष्ट है कि आधुनिक समय में संयुक्त परिवार में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं तथा इन परिवर्तनों के लिए एक से अधिक कारक उत्तरदायी हैं।

## संयुक्त परिवार के प्रकार (Kinds of Joint Family)

संयुक्त परिवार का वर्गीकरण मुख्यतया दो आधारों पर किया गया है-

(i) पैतृक सम्पत्ति में अधिकार की दृष्टि से-

(क) दायभाग संयुक्त परिवार,

(ख) मिताक्षरा संयुक्त परिवार।

(ii) सत्ता की दृष्टि से-

(क) पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार,

(ख) मातृसत्तात्मक संयुक्त परिवार।

दायभाग संयुक्त परिवार-दायभाग संयुक्त परिवार का आधार जीमूतवाहन द्वारा लिखित ग्रन्थ 'दायभाग' है। यह ग्रन्थ 1090 से 1130 के बीच लिखा गया था। इस प्रकार के परिवार बंगाल तथा असम में पाए जाते हैं। यह सिद्धान्त मिताक्षरा के नियमों के विरुद्ध हैं। इसमें"दाय' शब्द की दो व्याख्या दी गई हैं-

(अ) मिताक्षरा नियम के प्रतिपादक विज्ञानेश्वर के अनुसार "दाय' वह सम्पत्ति है; जिस पर दूसरे व्यक्ति का अधिकार सम्पत्ति के स्वामी के साथ सम्बन्ध होने से स्थापित हो जाता है। जैसे-पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार होता है। यह अधिकार पिता-पुत्र में सम्बन्ध होने के कारण होता है। यह सम्बन्ध जन्म के कारण है; अतः सम्पत्ति में अधिकार भी जन्म से होना चाहिए।

(ब) दायभाग शब्द की दूसरी व्याख्या जीमूतवाहन ने दी है। उनके अनुसार "दाय' शब्द की उत्पत्ति "दा' धातु से हुई है, अर्थात् जो दिया जाए वह दान है। दान देने वाला अपने अधिकारों को त्यागता है, इस प्रकार जब सम्पत्ति का स्वामी दान देने वाली सम्पत्ति से अपना अधिकार त्यागता है; तभी दूसरे व्यक्ति का अधिकार होता है, वैसे नहीं होता है। बिना उसका अधिकार समाप्त हुए किसी नये व्यक्ति का अधिकार नहीं हो सकता। इस प्रकार पिता की मृत्यु के बाद उसका सम्पत्ति से अधिकार समाप्त होता है तभी पुत्र का अधिकार होता है, इससे पहले नहीं। दायभाग संयुक्त परिवार की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

(1) पिता की मृत्यु के उपरान्त ही सम्पत्ति में पुत्रों को अधिकार मिलता है, इससे पहले नहीं।

(2) पिता के जीवनपर्यन्त पुत्र सम्पत्ति में बँटवारे की माँग नहीं कर सकते।

(3) पिता का सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होता है। वह पैतृक या स्वअर्जित दोनों प्रकार की सम्पत्ति को अपनी इच्छानुसार किसी को भी दे सकता है। लड़के का केवल भरण-पोषण के अतिरिक्त सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता

(4) पिता की मृत्यु के बाद सभी भाइयों का हिस्सा होता है, यदि उस पिता का कोई पुत्र नहीं है तो सम्पत्ति अन्य व्यक्तियों को न मिलकर मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारी को ही मिलती है; जैसे-पुत्र के न होने पर विधवा स्त्री को हिस्सा मिलता है।

(5) इस नियम के अन्तर्गत स्त्रियों को भी सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त होता है।

मिताक्षरा संयुक्त परिवार-यह तथ्यों जिन सिद्धान्तों पर आधारित है। उसका आधार याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर द्वारा लिखित टीका है। यह टीका 1070 से 1100 के मध्य लिखी गई थी। यह सिद्धान्त बंगाल तथा असम को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में प्रचलित था। ऐसे परिवार की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

(1) सम्पत्ति पर सभी साक्षीदारों का संयुक्त स्वामित्व होता है। पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार जन्म से ही मिल जाता है।

(2) यदि कोई हिस्सेदार बिना पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र के मर जाता है तो उसका हिस्सा अन्य भागीदारों में बाँट दिया जाता है।

(3) स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार नहीं मिलता, चाहे वह मृत व्यक्ति की माता हो या पत्नी, परन्तु बाद में सन् 1937 में हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति में अधिकार सम्बन्धी अधिनियम बनने के उपरान्त इस नियम में कुछ सुधार हुआ। अब विधवा को पति का भाग उसके जीवन काल के लिए मिलता है। वह उसे किसी को न दे सकती हैं, न बेच सकती है।

(4) सम्पत्ति के हिस्सेदार किसी भी समय सम्पत्ति में बँटवारे की माँग कर सकते हैं।

(5) सम्पत्ति पर पिता का सीमित अधिकार होता है। वह केवल धार्मिक कार्यों के लिए ही लिए गए ऋणों को चुकाने के लिए सम्पत्ति बेच सकता है।

पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार-पितृसत्तात्मक परिवार में सत्ता या अधिकार पिता के हाथ में होता है, इसलिए उसे पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार कहते हैं। इन परिवारों में वंश का नाम पिता के आधार पर चलता है। इन परिवारों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित होती हैं-

(1) वंश का नाम पिता के वंश के आधार पर चलता है, अर्थात् पुत्र को पिता के वंश का नाम ग्रहण करना पड़ता है।

(2) इन परिवारों में पिता, उनके भाई, लड़के के बच्चे, इन सबकी पत्नी तथा अविवाहित लड़कियाँ सम्मिलित रहती हैं।

(3) बच्चों का अधिकार अपने पिता की सम्पत्ति पर होता है, माता के परिवार की सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार नहीं होता।

(4) सामाजिक एवं पारिवारिक पद एवं प्रतिष्ठा लड़कों को ही प्राप्त होती है।

(5) परिवार एवं सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार पिता का ही होता है। परिवार का सबसे बड़ा पुरुष कर्ता कहलाता है, जिसे पूरा अधिकार होता है।

मातृसत्तात्मक संयुक्त परिवार-इस प्रकार के परिवारों में सत्ता स्त्रियों के हाथ में होती है, इसलिए इसे मातृसत्तात्मक परिवार कहते हैं। इन परिवारों में मुख्यतया माता के परिवार के सभी सदस्य निवास करते हैं। इस प्रकार के परिवारों की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं-

(1) बच्चों का नाम माता के वंश के नाम के आधार पर रखा जाता है।

(2) इन परिवारों में स्त्री, उसके भाई, बहनें, उनके पति व अविवाहित लड़के रहते हैं।

(3) इस परिवार में पुत्र को पिता से कोई सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती है। सम्पत्ति में अधिकार माता के सम्बन्ध से निश्चित होता है। लड़कों को सम्पत्ति में अधिकार नहीं मिलता।

(4) विवाह के उपरान्त पुरुष को स्त्री के घर जाना पड़ता है।

(5) इस प्रकार के समाज में पुरुषोचित अधिकार पुरुषों को प्राप्त हैं, बाकी सब अधिकार स्त्रियों को मिलते हैं।

### संयुक्त परिवार में हो रहे बदलाव (परिवर्तन)

परिवर्तन एक प्राकृतिक घटना है। परिवर्तन की विभिन्न शक्तियाँ समाज के स्वरूप पर प्रभाव डालती हैं;

जिससे प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन होते रहते हैं। आधुनिक भारत में संयुक्त परिवार भी संक्रमण की स्थिति गुजर रहे हैं। इनके ढाँचे, कार्यों, आदर्शों और नैतिकता में तीव्रता से परिवर्तन हो रहे हैं। यह परिवर्तन दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं-

(क) संयुक्त परिवार की संरचना में परिवर्तन,

(ख) संयुक्त परिवार के कार्यों में परिवर्तन।

**(क) संयुक्त परिवार की संरचना में परिवर्तनः**

(1) संयुक्त परिवार के आकार में परिवर्तन-संयुक्त परिवार के आकार में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। इसका आकार दिन-प्रतिदिन छोटा होता जा रहा है। कृषि युग में संयुक्त परिवार का आकार बहुत बड़ा था तथा लगभग एक परिवार में 50-60 सदस्य रहते थे। परन्तु अब संयुक्त परिवारों की संख्या कम होती जा रही है। परिवार के परिश्रमी और कमाने वाले व्यक्ति अपना अलग परिवार बनाकर रह रहे हैं। ऐसे परिवारों में केवल पति-पत्नी और अविवाहित बच्चे ही पाए जाते हैं, जिसमें परिवार नियोजन के युग में सदस्य संख्या केवल 4-5 तक सीमित रह गई है।

(2) कर्ता की निरंकुशता में कमी-आधुनिक युग में कर्ता के अधिकारों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तथा उसका अधिकार दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा है। आज उसकी स्वेच्छाचारिता में भी पर्याप्त कमी आई है। परम्परागत रूप से परिवार के सभी धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि कार्यों में कर्ता का आदेश सर्वोपरि होता था तथा उनका पालन सबके लिए आवश्यक था। परिवार की सभी चल तथा अचल सम्पत्ति पर कर्ता का ही अधिकार था। वर्तमान समय में कर्ता की स्थिति बदल गयी है। आज महत्त्वपूर्ण पारिवारिक निर्णय बिना उसकी सलाह के ले लिए जाते हैं। कर्ता निरंकुशतापूर्वक कार्य न करके सबके हितों को ध्यान में रखकर कार्य करता है। सामाजिक विधानों के कारण उसका परिवार की सम्पत्ति से स्वामित्व भी समाप्त हो गया है। वास्तविकता यह है कि आज लोग संयुक्त परिवार से धीरे-धीरे पृथक् होते जा रहे हैं तथा सम्पत्ति में भी हिस्सा माँग रहे हैं।

(3) कर्ता की पत्नी की स्थिति में परिवर्तन-संयुक्त परिवार में कर्ता की स्थिति में ह्रास होने के कारण उसकी स्त्री की स्थिति भी गिर गयी है। पहले परिवार की अन्य स्त्रियों की तुलना में उसकी स्थिति सर्वोच्च थी। उसके माध्यम से ही परिवार के छोटे सदस्य अपनी बातें कर्ता तक पहुँचाते थे। परनतु अब परिवार में शिक्षित बहुओं के आ जाने से कर्ता की स्त्री की स्थिति में परिवर्तन आ गया है। नव विवाहित शिक्षित बहुएँ उसकी हर बात को आँख मूँदकर स्वीकर नहीं करतीं।

(4) विवाह के रूप में परिवर्तन-पहले संयुक्त परिवारों में लड़के व लड़कियों के विवाह करने में माता-पिता व रिश्तेदारों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता था, परन्तु अब स्थिति में परिवर्तन हो गया है। अब लड़के व लड़कियाँ जीवन साथी का चुनाव स्वयं करने लगे हैं। इस प्रकार आज विवाह दो परिवारों से सम्बन्धित न होकर, दो व्यक्तियों से सम्बन्धित हो गया है। इसके अतिरिक्त विलम्ब विवाह के प्रति बढ़ती रुचि के कारण परिवार का रूप परम्पराओं पर आधारित न होकर जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित होने लगा है। कुलीन विवाह पहले संयुक्त परिवार के आधार थे, परन्तु अब एक विवाह को ही मान्यता दी जाती है; जिससे संयुक्त परिवार का आकार छोटा हो गया है।

(5) स्त्रियों की शक्ति में वृद्धि-आधुनिक युग में स्त्रियों की दशा में पर्याप्त परिवर्तन आया है, अब वह परिवार की कर्ता या सास की दासी मात्र नहीं रही। इस विषय में श्री मुखर्जी का यह कथन उल्लेखनीय है कि संयुक्त परिवारों में पहले माता, पत्नी और पुत्री के रूप में स्त्रियों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। पत्नी के रूप में उनकी दशा अत्यन्त चिन्तनीय थी। वह न तो अपने पति से बातचीत ही कर सकती थीं और न उसकी तरफ देख ही सकती थीं। उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं था। उनका सम्पूर्ण जीवन खाना पकाने और बच्चे पैदा करने में ही बीत जाता था। इसी प्रकार पुत्री के रूप में स्त्रियों की दशा शोचनीय थी। वे स्कूलों कॉलेजों में पढ़ने के लिए नहीं जा सकती थी, यहाँ तक कि बिना कर्ता की आज्ञा के घर के बाहर कदम नहीं रख सकती थीं। परन्तु आज स्त्रियों की इस स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। आज पवारों में स्त्रियाँ पति से खुलकर बातचीत करती हैं, उनके साथ सिनेमा, बाजार आदि भी जाती हैं। पुत्री के रूप में स्कूल-कॉलेजों में भी पढ़ने जाने लगीं हैं। विवाह के सम्बन्ध में भी वह अपने विचारों को रखने में नहीं हिचकिचाती हैं।

(6) पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन-संयुक्त परिवार के सदस्यों के परस्पर सम्बन्धों में भी परिवर्तन आया है। संयुक्त परिवार का प्रत्येक सदस्य अन्य सभी सदस्यों के हितों का ध्यान रखता था और प्रत्येक विषय में एक-दूसरे के साथ पूर्ण सहयोग करता था, क्योंकि संयुक्त परिवार का आधार ही सहयोग है, परन्तु यह परिस्थिति तेजी से बदल रही है। व्यक्तिवाद की भावना बढ़ने के साथ ही साथ संयुक्त परिवार में सहयोगी भावना का धीरे-धीरे लोप हो जाता है। चूँकि आज समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा उसके व्यक्तिगत गुणों या योग्यता पर आधारित है; इससे संयुक्त परिवार का प्रत्येक सदस्य सबके लिए कम और अपने लिए अधिक सोचता वास्तव में व्यक्तिवादिता और निजी सम्पत्ति की भावना ने परिवार के सदस्यों के बीच औपचारिक सम्बन्धों को विकसित किया है। सदस्यों के मध्य में से घनिष्ठता व आत्मीयता की भावना धीरे-ध रे लोप होती जा रही है तथा पारिवारिक नियन्त्रण दुर्बल होता जा रहा है। अन्य शब्दों में अब परिवार केवल एक औपचारिक संगठन मात्र होता जा रहा है।

(7) अस्थायित्व-पूर्व की अपेक्षा आधुनिक संयुक्त परिवारों की संरचना बहुत अस्थायी हो गई है। पति-पत्नी को वैधानिक रूप से विवाह विच्छेद का अधिकार मिल जाने से परिवारों का स्थायित्व किसी भी समय समाप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि होने पर तथा परिवार का आकार छोटा हो जाने के कारणर सरलतापूर्वक स्थान-परिवर्तन किया जाने लगा है। अन्य शब्दों में नौकरी एवं व्यवसाय के कारण परिवार के सदस्य एक-दूसरे से पृथक् दूर-दूर रहने लगे हैं। इससे परिवार व नातेदारी का नियन्त्रण शिथिल हो गया है। यौन स्वच्छन्दता ने भी परिवार के स्थायित्व को कम कर दिया है।

(8) सामूहिकता के तत्त्वों में कमी-औद्योगीकरण व नगरीकरण के कारण आधुनिक संयुक्त परिवार सामूहिकता के तत्त्वों से दूर हो गया है। परम्परागत संयुक्त परिवार की एकता बनाए रखने के लिए सामूहिक निवास, सामूहिक सम्पत्ति, सामूहिक पूजा तथा सामूहिक भोजन एक आधारभूत तत्त्व थे, परन्तु वर्तमान परिवारों में गतिशीलता आ जाने से तथा अलग-अलग स्थानों में रहने के कारण सामूहिक पूजा व सामूहिक रसोई की व्यवस्था सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति का भी विभाजन होने लगा है। इस प्रकार परिवारों की भावना समाप्त हो गई है और एकाकी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है।

(9) नवयुवकों के महत्त्व में वृद्धि-संयुक्त परिवारों में बच्चों और नवयुवकों का महत्त्व अब प्रतिदिन अधिक हो रहा है। परिवार के महत्त्वपूर्ण निर्णयों पर उनकी राय लेना भी आवश्यक समझा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग में संयुक्त परिवार में बच्चों और नवयुवकों की स्थिति व अधिकार में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

(10) सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार में परिवर्तन-संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषता सम्मिलित सम्पत्ति थी; जिस पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं होता था। यदि कोई सदस्य संयुक्त परिवार से अलग होता था तो उसे संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में से हिस्सा माँगने का कोई अधि कार नहीं था। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम (सन् 1929) में संयुक्त परिवार के सदस्यों को परिवार से अलग होने पर परिवार की संयुक्त सम्पत्ति में से अपना हिस्सा माँगने का अधिकार प्रदान किया गया है; इसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार से अनेक सदस्य अलग हो जाते हैं। इतना ही नहीं, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम (1956) में हिन्दू स्त्रियों को भी परिवार की सम्पत्ति में से अपने हिस्से को माँगने का अधिकार दे दिया है। अब माता, पत्नी या पुत्री के रूप में वह क्रमशः पति या पिता की सम्पत्ति में हिस्सा प्राप्त कर सकती हैं।

### (ख) संयुक्त परिवार के कार्यों में परिवर्तन

(1) शिक्षा व सांस्कृतिक कार्यों में परिवर्तन-एक समय था जबकि संयुक्त परिवार अपने सदस्यों को शिक्षा प्रदान करने तथा उन्हें अपने समाज की संस्कृति, प्रथाओं, परम्पराओं, रीति-रिवाजों से परिचित कराने का कार्य करता था, परन्तु अब यह कार्य राज्य की शिक्षा संस्थाओं द्वारा किया जाने लगा है।

(2) धार्मिक कार्यों में परिवर्तन-पहले संयुक्त परिवार सदस्यों के धार्मिक कार्यों की पूर्ति करता था, किन्तु धर्म का महत्त्व घटने पर परिवार के धार्मिक कार्यों में भी कमी आई है। यज्ञ, हवन, पूजा, उपासना, व्रत व त्यौहार आदि के कार्य अब केवल खानापूरी मात्र रह गए हैं। वर्तमान जीवन में धर्म का अर्थ कर्त्तव्य-भावना से लिया जाता है, न कि विभिन्न प्रकार के धार्मिक समारोहों को सम्पन्न करने से।

(3) आर्थिक कार्यों में परिवर्तन-आज से कुछ काल पूर्व तक सभी आर्थिक क्रियाएँ संयुक्त परिवार द्वारा सम्पन्न की जाती थीं। परिवार का मुखिया ही सदस्यों के बीच श्रम विभाजन करता था और जीविकोपार्जन के साधन निश्चित करता था, लेकिन व्यक्तिवादिता, निहित स्वार्थ और निजी सम्पत्ति की भावना के कारण आर्थिक क्रियाओं का चुनाव और उसके लाभ तथा हानि का दायित्व अब व्यक्तिगत आधार पर ही निर्धारित होता है। वास्तव में परिवार अब उपभोग करने वाली इकाई मात्र रह गया है।

(4) मनोरंजन के कार्यों में परिवर्तन-पहले संयुक्त परिवार ही अपने सदस्यों को मनोरंजन प्रदान करता था। अवकाश के क्षणों में सभी सदस्य एक साथ बैठकर स्वस्थ मनोरंजन प्राप्त करते थे, परन्तु वर्तमान युग में मनोरंजन का सम्पूर्ण कार्य, क्लबों, नाटकघरों, रेडियो तथा सिनेमाघरों ने ले लिया है।

## केन्द्रीय परिवार का अर्थ एवं परिभाषा
## (Meaning and Definition of Nuclear Family)

केन्द्रीय परिवार में सामान्य रूप से पति-पत्नी तथा उनके अविवाहित बच्चे रहते हैं। केवल दो पीढ़ियों तक सीमित परिवार को केन्द्रीय परिवार कहा जाता है। यह सभी प्रकार के परिवारों का सबसे छोटा और आधारभूत रूप है। लेकिन सदस्यों की संख्या कम होना; केन्द्रीय परिवार की निश्चित और शत-प्रतिशत विशेषता नहीं है। ऐसा सम्भव हो सकता है कि किसी दम्पत्ति के बच्चों की संख्या किसी संयुक्त परिवार के सदस्यों की संख्या से भी अधिक हो। इसलिए इस केन्द्रीय परिवार के प्रकार का निर्धारण पीढ़ियों की संख्या द्वारा भी किया जाता है। अतः एकाकी या केन्द्रीय परिवार में केवल दो पीढ़ियों के सदस्य अर्थात् पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे ही सम्मिलित रहते हैं। कभी-कभी ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि पति-पत्नी एक साथ एक परिवार में रहते हैं, परन्तु उनके कोई सन्तान नहीं होती। ऐसी स्थिति में वे किसी दूसरे के बच्चे को स्वयं गोद ले लेते हैं। इस प्रकार के परिवार को भी; जिसमें पति-पत्नी तथा उनके गोद लिए बच्चे साथ-साथ रहते हैं, केन्द्रीय परिवार ही कहते हैं। परन्तु यदि पति या पत्नी में से किसी की मृत्यु के पश्चात् पति या पत्नी पक्ष के सम्बन्धी आकर केन्द्रीय परिवार में रहने लगते हैं और परिवार को चलाते हैं तो ऐसे परिवार को केन्द्रीय परिवार न कहकर विवाह सम्बन्धी परिवार कहते हैं।

हैरिस (Harris) ने केन्द्रीय परिवार को परिभाषित करते हुए कहा है कि "एक केन्द्रीय परिवार उन व्यक्तियों का छोटा समूह है जो जैविकीय भूमिका निभाने के अतिरिक्त एक-दूसरे के प्रति संस्थागत सामाजिक दायित्वों को पूरा करते हैं तथा ऐसा करने के साथ ही उन विश्वासों और मूल्यों का पालन करते हैं, जिनकी उनसे परिवार के अन्तर्गत करने की आशा की जाती है।" इस प्रकार हैरिस एकाकी परिवार को एक छोटे समूह के रूप में परिभाषित करते हैं जो जैविकीय भूमिका भी निभाता है और सभी प्रकार के दायित्वों को भी पूरा करता है। साथ ही परिवारों के मूल्यों व विश्वासों का पालन करता है।

ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने एकाकी परिवार या केन्द्रीय परिवार का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "परिवार न्यूनाधिक अंशों में एक स्थिर समिति है; जो पति-पत्नी तथा उनके बच्चों अथवा बिना बच्चों तथा पति व पत्नी में से कोई एक और उनके बच्चों से मिलकर बनता है।" इस प्रकार केवल विवाहित पति-पत्नी द्वारा संगठित संस्था को केन्द्रीय परिवार कहा जाता है। पति-पत्नी के अविवाहित बच्चे भी इसमें सम्मिलित रहते हैं।

मुरडाक (Murdock) ने मूल परिवार या एकाकी या केन्द्रीय परिवार की परिभाषा करते हुए स्पष्ट लिखा है कि "मूल परिवार विवाहित पुरुष और स्त्री तथा उनके बच्चों से मिलकर बनता है, यद्यपि कुछ व्यक्तिगत स्वरूपों (अपवादस्वरूप) में एक या अधिक अतिरिक्त व्यक्ति भी उनके साथ रह सकते हैं।"

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि माता-पिता और उनके अविवाहित बच्चों तक ही केन्द्रित परिवार सीमित रहता है। बच्चे न होने पर गोद लिए गए बच्चों को भी एकाकी परिवार का सदस्य माना जाता है। केन्द्रीय परिवार में मुख्यतः आठ प्रकार के सम्बन्ध देखे जाते हैं-पति-पत्नी, पिता-पुत्र, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, माता-पुत्री, भाई-बहिन, बहिन-बहिन, भाई-भाई। इस प्रकार हम देखते हैं कि केन्द्रीय परिवार ही परिवार का प्रारम्भिक स्वरूप है। मूल परिवारों से मिलकर ही संयुक्त परिवार तथा अन्य प्रकार के परिवार बनते। केन्द्रीय परिवार संसार के समस्त भागों में पाए जाते हैं। यह सामाजिक समूहों का केन्द्र बिन्दु है। इसी सम्बन्ध में मुरडाक लिखते हैं कि" केन्द्रीय परिवार एक सर्वव्यापक मानव सामाजिक समूह है।"

**केन्द्रीय परिवार के लक्षण (Features of Nuclear Family)**-उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के आधार पर केन्द्रीय परिवार के निम्नलिखित प्रमुख लक्षण स्पष्ट होते हैं-

(i) केन्द्रीय परिवार की सदस्यता पति-पत्नी और उनके बच्चों तक सीमित होती है।

(ii) केन्द्रीय परिवार का आकार छोटा होता है। इसकी सदस्य संख्या बहुत सीमित होती है।

(iii) केन्द्रीय परिवार केवल दो पीढ़ियों तक ही सीमित होता है अर्थात् इसमें केवल दो पीढ़ियों के ही सदस्य रहते हैं।

(iv) केन्द्रीय परिवार में व्यक्तिगत आय होती है, जिस पर केवल पति-पत्नी व उनके बच्चों का ही अधिकार होता है और यही इसका उपयोग करते हैं।

(v) इसमें पिता ही परिवार का कर्ता होता है और सभ्य समाजों में केन्द्रीय परिवार पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय एवं पितृ स्थानीय ही होते हैं।

केन्द्रीय परिवार के लाभ (Advantages of Nuclear Family)-यह कहा जाता है कि आमतौर पर संयुक्त परिवार के दोषों एवं कमियों से बचने के विकल्प के रूप में केन्द्रीय परिवार की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार संयुक्त परिवार के दोषों को इस केन्द्रीय परिवार से दूर करने का प्रयत्न किया गया है। केन्द्रीय परिवार के कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं

(i) बच्चों के पालन-पोषण को महत्त्व (Importance to Nature of the Children)-केन्द्रीय परिवार में माता-पिता के स्नेह एवं आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु उनके अपने ही बच्चे होते हैं। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि माता-पिता दोनों ही अपने बच्चे के पालन-पोषण की उत्तम से उत्तम व्यवस्था करते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि केन्द्रीय परिवार में बच्चों की संख्या कम होने के कारण, यह सम्भव भी होता है। प्रत्येक बच्चे की रुचियों तथा अन्य विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से हो जाने से बालकों पोषण अधिक उत्तम होता है और माता-पिता इसको महत्त्व भी अधिक देते हैं।

(ii) समाजीकरण एवं व्यक्तित्व विकास का केन्द्र (Centre of Socialization and Person-ality Development)-केन्द्रीय परिवार में माता-पिता के ध्यान का केन्द्र बिन्दु उनके बच्चे होते हैं। इसलिए केन्द्रीय परिवार में प्रत्येक बच्चे की प्रवृत्तियों तथा अभिवृत्तियों का पूरा ध्यान रखा जाता है। साथ ही बच्चे की योग्यताओं और आकांक्षाओं का भी समय-समय पर विश्लेषण किया जाता है; जिसके परिणामस्वरूप बालकों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होने के अवसर अधि क होते हैं। इस प्रकार परिवार समाजीकरण व नियन्त्रण के माध्यम से अपने व्यक्तियों को सद्गुणों तथा अनुशासित जीवन व्यतीत करने का प्रशिक्षण देता है।

(iii) स्त्रियों की उच्च स्थिति (Higher Status of Women)-केन्द्रीय परिवार में स्त्रियों या पत्नियों की स्थिति एवं भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। वह पुरुष की दासी न होकर उसकी सहचरी होती है जो उसके कन्धे से कन्धा मिलाकर पारिवारिक संगठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। विभिन्न पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए पत्नी की राय ली जाती है।

(iv) सीमित आकार (Limited Size)-चूँकि केन्द्रीय परिवार में बच्चों के लालन-पालन पोषण का दायित्व पति-पत्नी पर होता है, इसलिए प्रायः वे अपनी सुविधा को ध्यान में रखते हुए परिवार को सीमित ही रखते हैं अर्थात् सन्तान कम उत्पन्न करते हैं। शहरों में अनेक केन्द्रीय परिवार के पति-पत्नी नौकरी करते हैं। अत: उनसे पास समय का ही अभाव होता है, वे परिवार को सीमित रखने के लिए बाध्य होते हैं।

(v) सौहार्द्रमय तथा स्वस्थ वातावरण (Sympathetic and Healthy Environment)-केन्द्रीय परिवार में चूँकि पति-पत्नी व उनके बच्चे ही होते हैं और सभी रक्त सम्बन्धी तथा आत्मीय सम्बन्धी होते हैं, अतः इनमें किसी प्रकार के तनाव, ईर्ष्या, द्वेष, लड़ाई-झगड़े आदि के अवसर नहीं होते हैं। बल्कि परिवार में प्रेम, स्नेह, सहानुभूति वात्सल्यपूर्ण सौहार्द्रमय वातावरण पाया जाता है।

(vi) आत्मनिर्भरता एवं आत्मविश्वास (Self-reliance and Self-confidence)-केन्द्रीय परिवार में परिवार के सदस्य ; परिवार के सभी मामलों या समस्याओं का हल स्वयं निकालते हैं। इससे उनके आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त ये व्यक्ति अपने बच्चों को सुरक्षा उत्पन्न करने वाली समिति में बाँध लेते हैं।

केन्द्रीय परिवार की सीमाएँ (Limitations of Nuclear Family)-केन्द्रीय परिवार के उपर्युक्त लाभ होने के साथ-साथ इसकी कुछ सीमाएँ भी हैं, जिन्हें निम्नांकित बिन्दुओं पर स्पष्ट किया जा रहा है-

(i) नव दम्पत्ति की परेशानियाँ (Problems of Newly Weds)-केन्द्रीय परिवार का प्रारम्भ ही नव दम्पत्ति से होता है। अनुभवहीन होने के कारण प्रारम्भ में उन्हें विभिन्न प्रकार की परेशानियों को झेलना पड़ता है। पारिवारिक जिम्मेदारी को पूर्ण करना और घर-गृहस्थी के भार को उठाना; उनके लिए प्रारम्भ में कष्टदायक होता है।

(ii) बच्चों की अपर्याप्त देख-रेख (Inadequate Care of Children)-केन्द्रीय परिवार में बच्चों की देख-रेख या पालन-पोषण के लिए उनके माता-पिता ही होते हैं और माता-पिता प्रायः आर्थिक परिस्थिति के कारण नौकरी कर रहे होते हैं। ऐसी स्थिति में बच्चों की देख-भाल, पालन-पोषण घरेलू नौकरों द्वारा या अनुभवहीन माता-पिता के द्वारा होता है। दोनों ही स्थितियों में पालन-पोषण एवं देख-रेख पर्याप्त रूप से नहीं हो पाती है।

(iii) औपचारिकतापूर्ण सम्बन्ध (Formal Relations)-नौकरी करने वाले पति-पत्नी के सम्बन्ध प्रायः औपचारिकतापूर्ण अधिक होते हैं। इसका कारण उनका अधिक व्यस्त जीवन है। दोनों ही अपने-अपने व्यवसाय या नौकरी में दिन भर लगे रहते हैं, केवल रात्रि में ही आपस में मिल पाते हैं। घर एक धर्मशाला या रैनबसेरा-सा होकर रह जाता है।

(iv) परम्पराओं की अवहेलना (Neglect of Traditions)-केन्द्रीय परिवार में पति-पत्नी अपने दैनिक कार्यों, नौकरी, व्यवसाय में अधिक व्यस्त रहते हैं। साथ ही परम्पराओं का ज्ञान कराने वाले बड़े-बूढ़ों का अभाव होने के कारण उन्हें परम्पराओं, प्रथाओं आदि का ज्ञान कम हो पाता है। अतः वृद्धजनों के निर्देशन के अभाव के कारण प्रथाओं व परम्पराओं का जीवन में महत्त्व घटता जाता है। इस दशा में परम्पराओं की अवहेलना होना स्वाभाविक है।

(v) पारिवारिक विघटन के अवसर (Opportunities of Family Disorganization)-केन्द्रीय परिवार पति-पत्नी के पारिवारिक सम्बन्धों पर ही निर्भर होता है, परिवार में कोई अन्य वृद्ध सदस्य नहीं होता है। ऐसी स्थिति में जब कभी पति-पत्नी में मनमुटाव या तनाव उत्पन्न हो जाता है तो उसको दूर करने वाले वृद्धजन के अभाव के कारण परिवार के स्थायित्व के लिए हानिकारक हो जाता है। कई बार छोटी-छोटी बातें भी विकराल रूप लेकर पारिवारिक विघटन का कारण बन जाती हैं।

इस प्रकार परिवार का एक सबसे छोटा और आधारभूत स्वरूप केन्द्रीय परिवार है। भारत के सभी नगरों में ऐसे परिवारों का प्रचलन देखा जा सकता है। औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा का प्रसार, नौकरियों के अवसरों में वृद्धि, स्त्रियों का नौकरियों में प्रवेश एवं यातायात व सन्देशवाहन के साधनों में वृद्धि आदि

विभिन्न कारकों के परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार दिन-प्रतिदिन विघटित होते जा रहे हैं और केन्द्रीय परिवारों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संयुक्त परिवार के दोषों या कमियों को इन केन्द्रीय परिवारों ने काफी सीमा तक दूर करने का प्रयत्न किया है। इनके अगर लाभ हैं तो केन्द्रीय परिवार की कमियों को भी नकारा नहीं जा सकता है।

### केन्द्रीय परिवार के कार्य (Functions of Nuclear Family)

केन्द्रीय परिवार के प्रमुख कार्यों की विवेचना करते हुए किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) लिखते हैं 'समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से हम केवल सामाजिक कार्यों से अधिक सम्बन्धित हैं, फिर भी इसके चार कार्य अधिक प्रमुख हैं; जिनसे हम सम्बन्धित हैं और वे हैं-प्रजनन क्रिया, पालन-पोषण, स्थान प्राप्त करना या स्थिति निर्धारण और समाजीकरण। यही कार्य मुख्य हैं, जिनसे प्रत्येक काल और प्रत्येक स्थान पर परिवार सम्बन्धित होता है।" इससे स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय परिवार के कार्य पर्याप्त सीमित हैं। इस आधार पर परिवार के निम्नलिखित मुख्य कार्य स्पष्ट होते हैं-

(1) सन्तान उत्पत्ति (Reproduction)-सन्तान उत्पत्ति केन्द्रीय परिवार का प्रमुख कार्य है, क्योंकि इसी आधार पर परिवार का वंश चलता है और माता-पिता विभिन्न प्रकार के धार्मिक कृत्य, क्रियाओं, यज्ञों को पूर्ण करते व ऋणों से उऋण होते हैं। सामाजिक तथा वैधानिक स्वीकृति प्राप्त करने के लिए विवाह और परिवार का होना आवश्यक है।

(2) बच्चों का पालन-पोषण (Nurture of Children)-बच्चों को एक लम्बी अवधि तक माता-पिता द्वारा पालन-पोषण और स्नेह की आवश्यकता होती है, तभी उसका सर्वांगीण विकास सम्भव होता है।

(3) सामाजिक स्थिति प्राप्त करना (Provide Social Status)-प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक संगठन में कोई न कोई सामाजिक स्थिति होती है। व्यक्ति इस स्थिति को परिवार से ही प्राप्त करता है। बालक जिस परिवार में जन्म लेता है; उसकी सामाजिक स्थिति उसके माता-पिता या परिवार की सामाजिक स्थिति से जुड़ जाती है।

(4) समाजीकरण (Socialization)-केन्द्रीय परिवार का एक प्रमुख कार्य बालक का समाजीकरण करना है। परिवार के माध्यम से अर्थात् उसके माता-पिता व उसके बड़े भाई-बहन उस नवीन मानव शिशु को सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित करते हैं। उसे समाज के तौर-तरीके, सामाजिक नियम, प्रथाओं, परम्पराओं आदि का ज्ञान कराते हैं। इस तरह परिवार वह स्थान है, जहाँ सर्वप्रथम व्यक्तित्व का निर्माण किया जाता है।

### नातेदारी व्यवस्था का अर्थ एवं परिभाषा
### (Meaning and Definition of Kinship System)

विभिन्न विद्वानों ने नातेदारी व्यवस्था की परिभाषा अपने-अपने दृष्टिकोण से की है; उनमें से प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

रॉबिन फॉक्स (Robin Fox) के अनुसार-इन्होंने नातेदारी की एक अत्यन्त सरल परिभाषा दी है "नातेदारी केवल मात्र स्वजन अर्थात् वास्तविक, ख्याति अथवा कल्पित समरक्तता वाले व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध है।"

चार्ल्स विनिक (Charles Winick) के अनुसार, "नातेदारी व्यवस्था में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे सम्बन्ध आ सकते हैं जो अनुमानित और वास्तविक वंशावली सम्बन्धों पर आधारित हों।"

मजूमदार एवं मदान (Majumdar and Madan) के अनुसार, "सभी समाजों के सदस्य विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों के आधार पर कई समूहों के रूप में एक-दूसरे के साथ बँधे रहते हैं। इन सम्बन्धों में से अत्यन्त सार्वभौमिक एवं अत्यधिक आधारभूत सम्बन्ध वे हैं जो प्रजनन पर आधारित होते हैं। प्रजनन की सहज मानवीय प्रेरणा पर आधारित इन सम्बन्धों को ही नातेदारी कहा जाता है।"

रिवर्स (Reverse) के अनुसार, "बंधुत्व की मेरी परिभाषा उस सम्बन्ध से है जो वंशावलियों के माध्यम से निर्धारित तथा वर्णित की जा सकती है।"

रेडक्लिफ ब्राउन (Redeliff Brown) के अनुसार, "नातेदारी (संगोत्रता अथवा स्वजनता) सामाजिक उद्देश्यों के लिए स्वीकृत वंश सम्बन्ध है, जोकि सामाजिक सम्बन्धों के परम्परागत सम्बन्धों का आधार है।"

विर्क ने सगोत्रता या नातेदारी को ऐसे सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया है जो वंशावलियों के माध्यम से निर्धारित तथा वर्णित की जा सकती है।

नातेदारी व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग है जिन्हें रक्त सम्बन्ध के कारण नातेदार या सम्बन्धी माना जाता है। रक्त सम्बन्धों को व्यक्त करने के लिए तकनीकी शब्द समरक्तता (Consanguinity) का प्रयोग किया जाता है और विवाह के फलस्वरूप स्थापित होने वाले सभी प्रकार के सम्बन्धों को व्यक्त करने के लिए विवाह सम्बन्ध (Affinity) शब्द का प्रयोग किया जाता है।

श्यामलाल शर्मा के अनुसार, "नातेदारी उस व्यवस्था का नाम है जो स्वजनों के परस्पर सम्बन्धों को नियमित करती है। ये स्वजन वास्तविक भी हो सकते हैं और काल्पनिक भी।"

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि नातेदारी व्यवस्था के अन्तर्गत हम उन लोगों को सम्मिलित करते हैं; जिनमें परस्पर सम्बन्ध हो, चाहे वे सम्बन्ध काल्पनिक आधार पर हों या वास्तविक रक्त सम्बन्धों पर आधारित हों। मानव समाज में विवाह के आधार पर परिवारों के सदस्य सम्बन्धों और व्यवहार की दृष्टि से एक-दूसरे के बहुत निकट आ जाते हैं।

### नातेदारी के प्रकार या भेद (Types of Kinship)

नातेदारी कई प्रकार की होती है। एक प्रकार की नातेदारी का आधार वंश परम्परा प्रथा अथवा कौटुम्बिक होता है तथा दूसरे प्रकार की नातेदारी विवाहों द्वारा विकसित होती है; जैसे दादा, ताऊ, चाचा, भाई, भतीजा का आधार वंश होता है जबकि पुत्र, माता, साला, बहनोई आदि का आधार विवाह होता है। विवाह सम्बन्ध नातेदारी में पति तथा पत्नी के तरफ के सभी नाते-निश्तेदार आ जाते हैं।

नातेदारी भावनात्मक सम्बन्धों पर आधारित व्यवस्था है। उसका आधार रक्त सम्बन्ध है। इस आधार पर हम नातेदारी व्यवस्था को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं-

(1) समरक्त सम्बन्धी नातेदारी-इसके अन्तर्गत वे सभी सम्बन्धी आते हैं जो रक्त से सम्बन्धित होते हैं; जैसे-माता-पिता, भाई-बहिन, आदि अर्थात् माता-पिता एवं उनकी उनसे उत्पन्न सन्तानें इसके अन्तर्गत आ जाते हैं, लेकिन फिर भी भिन्न-भिन्न यौन-सम्बन्धों से उत्पन्न सन्तान यदि सामाजिक मान्यता प्राप्त है तो पिता की सन्तान समझी जायेगी। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि

रक्त सम्बन्धियों में प्राणिशास्त्रीय सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। उनके बीच काल्पनिक सम्बन्ध भी हो सकता है, जैसे-गोद लेने की प्रथा इसका उत्तम उदाहरण है। जनजातियों में जहाँ बहुपति विवाह प्रथा प्रचलित होती है, वहाँ पिता का पता ही नहीं चलता लेकिन उसके पता करने का आध र वहाँ की विभिन्न सामाजिक प्रथाएँ होती हैं; जैसे-नीलगिरि में बहुपति प्रथा वाले टोडा जनजाति में गर्भवती पत्नी को पाँचवें महीने में धनुष-बाण भेंट करने वाला व्यक्ति ही उत्पन्न सन्तान का पिता मान्य होता है चाहे वह किसी भी पति से गर्भवती क्यों न हुई हो।

(2) विवाह सम्बन्धी नातेदारी-जब विवाह के माध्यम से दो परिवारों का मिलन होता है तो दोनों परिवारों के बीच स्थायी सम्बन्ध बनते हैं और नातेदारी स्थापित होती है, उससे सम्बन्धित नातेदारी की लिस्ट काफी विस्तृत होती है; जैसे-पति, पत्नी, जीजा, ससुर, समधी, समधिन, बहनोई, सादू, देवर, जेठ, सास, साला, साली, फूफा, नन्दोई, भाभी, जेठानी, वधू आदि अर्थात् लड़के का विवाह जिस परिवार में होता है, तो उस परिवार के सभी सदस्य नातेदार बन जाते हैं; जैसे-मौसा, जीजा, दामाद, साढ़ू, फूफा आदि रिश्ते बढ़ जाते हैं। ठीक इसी प्रकार लड़की जब विवाह करके लड़के के घर आती है तो वह पत्नी होने के साथ भाभी, जेठानी, देवरानी, वधू, ताई, चाची आदि बन जाती है। इन नातेदारों को विवाह सम्बन्धी नातेदारी कहा जाता है।

## नातेदारी की श्रेणियाँ (Categories of Kinship)

नातेदारी में तीन वर्ग पाए जाते हैं; इन तीन श्रेणियों में विभाजन का आधार निकटता घनिष्ठता होती है।

**मुरडाक (Murdock)** ने नातेदारी को तीन भागों में विभाजित किया है-

(1) प्राथमिक सम्बन्धी नातेदार (Primary Relatives)-इसके अन्तर्गत वे नातेदार आते हैं; जिनसे हमारा प्रत्यक्ष व सीधा सम्बन्ध होता है। इस आधार पर एक परिवार में आठ प्रकार के सम्बन्धी नातेदार होते हैं। जैसे-पिता-पुत्र, माता-पुत्र, माता-पुत्री, पिता-पुत्री, भाई-भाई, भाई-बहन, बहिन-बहिन आदि जिन्हें प्राथमिक सम्बन्धी नातेदार कहते हैं।

(2) द्वितीयक सम्बन्धी नातेदार (Secondary Relatives)-इसके अन्तर्गत वे नातेदार आते हैं जो प्राथमिक सम्बन्धियों के प्राथमिक सम्बन्धी नातेदार होते हैं; जैसे भाई के लिए बहन प्राथमिक सम्बन्धी है लेकिन उसका पति अर्थात् जीजा द्वितीयक सम्बन्धी हुआ क्योंकि वह प्राथमिक सम्बन्धझी का प्राथमिक सम्बन्धी है। ये रक्त सम्बन्धी द्वितीयक रिश्तेदार होते हैं। इसी के अन्तर्गत चाचा-भतीजा, नाना-नानी आदि आ जाते हैं।

(3) तृतीयक सम्बन्धी नातेदार (Tertiary Relatives)-इसके अन्तर्गत वे नातेदार आते हैं जो प्राथमिक सम्बन्धों के द्वितीयक सम्बन्धी नातेदार होते हैं। जैसे दादाजी के पिताजी (परदादा) तथा साले का लड़का हमारा तृतीयक सम्बन्धी नातेदारी के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि दादाजी और साला हमारे द्वितीयक सम्बन्धी हैं और उनके पिताजी एवं पुत्र तृतीयक सम्बन्धी होंगे।

**स्व-प्रगति की जाँच करें :**

1. संयुक्त परिवार का अर्थ स्पष्ट करें।
2. श्री जौली के अनुसार संयुक्त परिवार की अवधारणा स्पष्ट करें।
3. क्या आप ऐसा मानते हैं कि संयुक्त परिवार में सम्मिलित निवास स्थान हुआ करता है?
4. क्या संयुक्त परिवार में असीमित उत्तरदायित्व तथा परस्पर कर्तव्य बोध की भावना पाई जाती है।

## नातेदारी की रीतियाँ या व्यवहार (Kinship Usages)

नातेदारी व्यवस्था में विभिन्न प्रकार की रीतियाँ व व्यवहार के ढंग प्रचलित हैं। ये व्यवहार व रीतियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्धियों व नातेदारों से भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं जो एक व्यक्ति को अलग-अलग नातेदारों, कुटुम्बियों के प्रति निभाने पड़ते हैं; जैसे-पति-पत्नी, भाई-बहन, आदि। इनके साथ एक ही व्यक्ति को पृथक्-पृथक् ढंग से व्यवहार व रीतियाँ निभानी पड़ती कुछ नातेदारों या रिश्तों के प्रति श्रद्धा, कुछ में

आपसी समान सम्बन्धों तथा कुछ को अपने से छोटा मानकर उनके प्रति प्रेम-स्नेह, मधुरता, कुछ के प्रति हास-परिहास के सम्बन्ध होते हैं; जैसे जीजा-साली या मामा-भान्जे आदि के होते हैं। इन प्रथाओं रीतियों के कुछ भेद हैं, जो निम्न प्रकार हैं

(1) परिहार (Avoidance)-नातेदारी में परिहार की रीति बहुत पुरानी है तथा लोकप्रिय भी है। परिहार का अर्थ दो रिश्तों के बीच एक सीमाबद्ध सम्बन्ध रखना अर्थात् पारस्परिक अन्तःक्रिया को टाले जाने का प्रयास किया जाता है। ऐसे रिश्ते एक-दूसरे के अन्तरंग होते हुए भी परस्पर सम्मानजनक रूप से एक-दूसरे से अलग से रहते हैं। जैसे-पुत्रवधू और उसके ससुर, जेठ तथा उसके छोटे भाई की पत्नी आदि इस रीति के अनुसार वे उनका नाम लेना या उससे बात करना अथवा उससे हँसी-मजाक करना वर्जित होता है। कहीं-कहीं दामाद और ससुर के बीच परिहार का सम्बन्ध पाया जाता है। उत्तरी भारत में दामाद की कमाई खाना बुरा मानते हैं। रैडक्लिफ ब्राउन का कहना है कि नातेदारी में कुछ ऐसे सम्बन्धी होते हैं जो किसी दूसरे के प्रति व्यक्ति विशेष का आकर्षण अथवा झुकाव देखकर ईर्ष्या करने लगते हैं। इसलिए स्वस्थ पारिवारिक जीवन के लिए परिहार की रीति का पालन आवश्यक हो जाता है। फ्रेजर का कहना है कि इस प्रकार के निषेध यौन सम्बन्धों को नियन्त्रित करते हैं। भारतीय समाज में भी परिहार की रीति देखने को मिलती है। सास-ससुर एवं जेठ से पुत्र-वधू परिहार का सम्बन्ध रखती है। इसमें ये लोग परस्पर बातचीत नहीं कर सकते, 'आमने-सामने नहीं आ सकते, एक-दूसरे को देख नहीं सकते तथा नाम नहीं ले सकते। रिवर्स ने कई उदाहरण प्रस्तुत किए हैं; जिनमें भाई-बहन जीवन भर परिहार का सम्बन्ध रखते हैं।

(2) हास-परिहास सम्बन्ध (Joking Relations)-नातेदारी में इस सम्बन्ध का विशेष महत्त्व माना जाता है। रैडक्लिफ ब्राउन के अनुसार परिहास सम्बन्ध दो व्यक्तियों का ऐसा सम्बन्ध है जिसमें प्रथा द्वारा दोनों व्यक्तियों को इस बात की छूट दी जाती है कि वे आपस में हँसी-मजाक करें एक-दूसरे को तंग करें और वे परस्पर एक-दूसरे की बात या हँसी-मजाक का बुरा न मानें। इसके अन्तर्गत हँसी-मजाक, गाली-गलौज, यौन-सम्बन्धी भद्दी बातें या यौन सम्बन्धी मजाक करने की छूट होती है। इस प्रकार के सम्बन्ध प्रमुखतः देवर-भाभी, जीजा-साली, ननद-भाभी, साले-बहनोई, दादा-पोती, फूफा-भतीजी, चाचा-भतीजा आदि के साथ परिहास सम्बन्ध होते हैं, जो परस्पर हँसी-मजाक कर सकते हैं। रैडक्लिफ ब्राउन का कहना है कि परिहास सम्बन्धों का एक प्रतीकात्मक अर्थ होता है जो मैत्री व घनिष्ठता का प्रतीक होता है। होली पर तो हास-परिहास अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इस प्रकार हास-परिहास सम्बन्ध पारिवारिक जीवन को सरस, सजीव व आनन्ददायक बना देता है।

(3) माध्यमिक सम्बोधन (Teknoymy)-नातेदारी की इस रीति के अन्तर्गत कुछ सम्बन्धियों को उनके नाम से पुकारना या उनका नाम लेना वर्जित है अर्थात् किसी को माध्यम बनाकर दूसरे को सम्बोधित किया जाता है इसीलिए इसे माध्यमिक सम्बोधन कहा जाता है; जैसे-आज भी गाँवों में स्त्रियाँ अपने पति का नाम नहीं लेतीं और पति भी अपनी पत्नी का नाम नहीं लेता है। ऐसी स्थिति में वे परस्पर बातचीत के लिए अपने किसी बच्चे को माध्यम बनाकर बात करते हैं। बबली की अम्मा या बबली के पिताजी कहकर सम्बोधित करते हैं। टायलर ने सर्वप्रथम माध्यमिक सम्बोध न शब्द का प्रयोग किया।

(4) मातुलेय (Avunculate)-इस रीति के अनुसार मामा द्वारा अपने भान्जे एवं भान्जियों को अन्य सभी सम्बन्धियों या नातेदारों की तुलना में अधिक महत्त्व या प्राथमिकता प्रदान करना है। यह रीति अधिकतर मातृसत्तात्मकं परिवारों में पाई जाती है। इसमें मामा का भान्जे-भान्जियों पर उनके पिता से

भी अधिक अधिकार होता है। भान्जे भी पिता की बजाय मामा के लिए कार्य करते हैं।

(5) पितृश्वश्रेय (Amitate)-नातेदारी की रीति के अनुसार इसमें पिता की बहन अर्थात् बुआ की विशिष्ट भूमिका या महत्त्व होता है। बुआ ही भतीजे के लिए बहू ढूँढ़ती है। वही अपने भाई के बच्चे के पोषण, नियन्त्रण आदि का उत्तरदायित्व निभाती है। टोडा जनजाति में बुआ ही बच्चे का नामकरण करती है। चैपल तथा कुन का कहना है कि जिन सम्बन्धियों में विवाह उपरान्त सामाजिक अन्तःक्रिया ढीली पड़ने लगती है तो उसे सक्रिय बनाए रखने के लिए इस प्रथा का जन्म हुआ क्योंकि बुआ विवाह पश्चात् दूसरे के घर चली जाती है अतः उसके साथ सम्पर्क और घनिष्ठता बनाए रखने के लिए यह प्रथा या रीति प्रचलित है।

(6) सहकण्टी (Couvade)-इस रीति का सम्बन्ध प्रसव काल से होता है। इसके अन्तर्गत जब किसी पुरुष की पत्नी गर्भवती होती है तो उसके पति को उन सारे निषेधों का पालन करना होता है जो गर्भवती करती है, जैसे पति को भी प्रसवा पत्नी के कमरे में रखा जाता है। वह भी ठीक उसी प्रकार कष्ट का अनुभव करता है और उसे भी प्रसवा की तरह अछूत माना जाता है। जो प्रसवा खाती है वही खाना उसको भी खाना पड़ता है अर्थात् पति को उन सारे निषेधों का पालन करना पड़ता है जो गर्भवती पत्नी करती है।

## सारांश

परिवार का एक सबसे छोटा और आधारभूत स्वरूप केन्द्रीय परिवार है। भारत के सभी नगरों में ऐसे परिवारों का प्रचलन देखा जा सकता है। औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा का प्रसार, नौकरियों के अवसरों में वृद्धि, स्त्रियों का नौकरियों में प्रवेश एवं यातायात व सन्देशवाहन के साधनों में वृद्धि आदि विभिन्न कारकों के परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार दिन-प्रतिदिन विघटित होते जा रहे हैं और केन्द्रीय परिवारों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संयुक्त परिवार के दोषों या कमियों को इन केन्द्रीय परिवारों ने काफी सीमा तक दूर करने का प्रयत्न किया है। इनके अगर लाभ हैं तो केन्द्रीय परिवार की कमियों को भी नकारा नहीं जा सकता है।

## स्व-प्रगति की जाँच के उत्तर :

1. संयुक्त परिवार का अर्थ-परिभाषाएँ-संयुक्त परिवार की परिभाषा के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों में मतभेद है। अतः विभिन्न विद्वानों ने इसे अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया है। एक ओर कुछ विद्वानों ने इसे कानूनी आधार पर स्पष्ट किया है तो अन्य विद्वानों ने इसकी परिभाषा संरचनात्मक विशेषताओं के आधार पर दी है। साधारण अर्थ में संयुक्त परिवार वह इकाई है; जिसमें स्त्री-पुरूष, पति-पत्नी, चाचा-ताऊ, भाई-भतीजे एक साथ, एक ही जगह पर निवास करते हैं तथा जिनकी सम्मिलित आय एवं सम्मिलित सम्पत्ति होती है।
2. श्री जौली (Jolly) के अनुसार, "सामान्यतया हिन्दू परिवार में चार पीढ़ियों के लोग सम्मिलित हो सकते हैं एवं सदस्यों की संख्या कुछ भी हो सकती है। न केवल माता-पिता और बच्चे, भाई और सौतेले भाई भी सामान्य सम्पत्ति पर गुजारा करते हैं, वरन् कभी-कभी आज कई परिवारों के उत्तराधिकारी और नातेदार भी उसमें शामिल हो सकते हैं।'
3. सम्मिलित निवास स्थान-सम्मिलित निवास संयुक्त परिवार का एक प्रमुख आधार है। सामाजिक दृष्टिकोण से भी उसी प्रकार को संयुक्त परिवार कहते हैं; जिसमें परिवार के सभी

सदस्य एक ही मकान में रहते हैं। यदि परिवार की सम्पत्ति सम्मिलित हो किन्तु परिवार के सभी सदस्य अलग-अलग रहते हों तो उसे हम संयुक्त परिवार नहीं कहेंगे। यदि संयुक्त निवास को संयुक्त परिवार का प्रमुख आधार न माना जाए तो भारतवर्ष के लगभग सभी परिवार संयुक्त ही माने जाएँगे।

4. असीमित उत्तरदायित्व तथा परस्पर कर्तव्य बोध (Unlimited Responsibility and Mutual Obligations)-संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों में असीमित उत्तरदायित्व की भावना पाई जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार इसी भावना से प्रभावित होकर कार्य करता है तथा परिवार को संगठित रखता है। परिवार में व्यक्ति के दायित्वों और कर्तव्यों की कोई सीमा नहीं होती है। जिस परिस्थिति में जो भी काम आवश्यक होता है, वही व्यक्ति को करना पड़ता है। इस प्रकार परिवार के प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से कर्तव्य-बोध की भावना से बँधे रहते हैं तथा दूसरों के लिए त्याग करने के लिए तैयार रहते हैं। अतः सबके लिए प्रत्येक तथा प्रत्येक के लिए सबकी भावना पर संयुक्त परिवार आधारित है।

**अभ्यास-प्रश्न**

1. परिवार की परिभाषा दें तथा इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करें।
2. संयुक्त परिवार की विशेषताओं तथा गुण-दोषों पर एक निबन्ध लिखें।
3. संयुक्त परिवार के विघटन के कारणों को स्पष्ट करें तथा इसके प्रकारों का वर्णन करें।
4. केन्द्रीय परिवार का अर्थ एवं लक्षण बताएँ। केन्द्रीय परिवार के कार्यों का वर्णन करें।
5. नातेदारी व्यवस्था का अर्थ बताएँ। इसके अर्थ तथा श्रेणियों का उल्लेख करें।
6. नातेदारी की रीतियों एवं व्यवहार पर एक टिप्पणी लिखें।

1. समकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, डॉ. विद्याधर पाण्डेय, स्वास्तिक पल्बिकेशन, नई दिल्ली, 2019.
2. समकालीन भारतीय समाज एवं समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2011.
3. भारतीय समाज, राम आहूजा, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2000.
4. समकालीन भारत में सामाजिक समस्याएं, डा. एम.एल. गुप्ता, डा. डी.डी. शर्मा, साहित्य भवन पल्बिकेशन्स, आगरा, 2023.
5. भारतीय समाज की गतिशीलता, आशीष कुमार, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2024.

# MATS UNIVERSITY

## MATS CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION


**UNIVERSITY CAMPUS:** Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

**RAIPUR CAMPUS:** MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

**T :** 0771 4078994, 95, 96, 98 **Toll Free ODL MODE :** 81520 79999, 81520 29999

**Website:** www.matsodl.com